TELUGU SANSKRITI

(A collection of Hindi Essays)

by

Dr. P. V. NARASA REDDY

□ Publisher : Dr. P. V. Narasa Reddy
SRIJAN PRAKASHAN
L I G 29, M. V. P. Colony
Visakhapatnam-530 017
(Andhra Pradesh)

□ First Edition : 1989

□ Price : Rs 45/- (Fourty Five)

□ Printer : Sarvani Printers
48-13-20, Sree Nagar
Visakhapatnam-530 016

भाई साहब

डॉ० पी. विजय राघव रेड्डी को

श्रद्धापूर्वक

प्रस्तावना

भारत एक सुविशाल देश है, जिसमें अनेक धर्म, जाति, वर्ग एवं भाषाओं के लोग बसे हुये हैं। फिर भी सहस्रों वर्षों के सह-जीवन से यहाँ पर एक अनोखी और इंद्रधनुषी संस्कृति का विकास हुआ है। लोग वैषम्यों से ऊपर उठकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यकलापों में एकजुट होकर भाग लेते रहे हैं। अब भारत में ऐसा कोई धर्म जाति, भाषा, साहित्य, आचार–व्यवहार नहीं है जो एक दूसरे से प्रभावित न हुआ हो। एक दूसरे को समझने और आपसी संबंधों में संघर्ष के स्थान पर सहयोग की भावना को प्रश्रय देने के लिये प्रादेशिक संस्कृतियों एवं साहित्यों का अध्ययन आवश्यक है। इससे हमारे मनःपटल से यह गर्व छूटता जायेगा कि केवल अपनी ही भाषा, साहित्य, धर्म, संस्कृति आदि दूसरे से उन्नत है। यदि हम विराट भारत के दर्शन करना चाहेंगे तो हमें यहाँ के विभिन्न प्रदेशों की सांस्कृतिक विविधताओं और समानताओं को बारीकी से समझना होगा।

वैसे तो 'संस्कृति' शब्द का तात्पर्य किसी एक अंश तक सीमित नहीं है, वह जीवन की तरह व्यापक है। फिर भी इस पुस्तक में एक प्रदेश विशेष से संबंधित कुछ अशों पर प्रकाश डालने का प्रयास मैंने किया है। मुझे खुशी है कि मैंने इस निबंध संकलन में ऐसे अछूते अंशों को हिन्दी में प्रस्तुत करने का साहस किया है, जिन्हें अन्य विद्वानों ने स्पर्श नहीं किया है। तेलुगु फिल्में, आंध्र प्रदेश में खिलौना-उद्योग, मछुआरों का जीवन, आदिवासियों का जीवन–संघर्ष आदि कुछ ऐसे ही अछूते विषय हैं।

'तेलुगु संस्कृति' में संकलित अधिकांश निबंध समय समय पर आजकल, आंध्रप्रदेश, जनसत्ता, धर्मयुग, नवनीत, भाषा, माधुरी, योजना, लघु उद्योग समाचार आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं। इस प्रकार पहली बार मेरे निबंधों को प्रकाशित कर जिन पत्रों के संपादकों ने मेरे लेखन कार्य को प्रोत्साहन प्रदान किया है, उन्हें मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

यदि इस निबंध संकलन को वर्ष 1987-88 के लिये केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली की ओर से पुरस्कार प्राप्त नहीं होता, संभवतः प्रकाश में आ नहीं पाता।

दक्षिण के ख्याति प्राप्त हिन्दी प्रचारक एवं साहित्यकार श्री बालशौरि रेड्डी जी, आचार्य जी. सुन्दर रेड्डी जी और आंध्रप्रदेश हिन्दी अकादमी के अध्यक्ष श्री वेमूरी राधाकृष्णमूर्ति जी को श्रद्धापूर्वक स्मरण कर लेना मेरा परम धर्म है कि जिन्हों ने मेरे लेखन कार्य को निरंतर प्रोत्साहन प्रदान किया है।

इस पुस्तक की आवरण-सज्जा की तैय्यारी में मेरे मित्रवर श्री. पी. सुब्रह्मण्यम भट्टुजी ने विशेष सहायता की है। शर्वाणी प्रिण्टर्स, विशाखापट्टनम के अधिपति श्री एम. आर. एल. रावजी तथा कम्पोजीटर श्री सुरेन्द्र कुमार के प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हूं, जिन्होंने अत्यंत कार्यभार के बावजूद इस निबंध संकलन को यथाशीघ्र सुन्दर रुप में मुद्रित किया है।

— पी. वी. नरसा रेड्डी

विषय - क्रम

1

आन्ध्र प्रदेश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज भारत में लगभग 80 करोड़ से अधिक लोग निवास करते हैं। पर वे न तो एक ही जाति या नस्ल के हैं और न उनकी भाषा एक ही है। भारतीय प्रकृति और जलवायु की विविधताओं और विभिन्नताओं के अनुसार यहाँ के निवासियों में भी विविधता है। इसमें विभिन्न प्रजातियों या नस्लों का समन्वय है।

मोटे तौर पर भारत के विभिन्न भाषाओं, धर्म, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, खान-पान आदि में भिन्नतायें अवश्य पाई जाती हैं। लेकिन बारीकी से अध्ययन करने से ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि सभी भारतीय एक ही संस्कृति के विभिन्न रूप मात्र हैं। भाषा, जाति, धर्म, व्यवस्था, व्यापार, जीवन–यापन आदि सभी महत्वपूर्ण अंगों पर पारस्परिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हैं। इन्हीं कारणों से भारत की मौलिक एकता अखण्ड है।

आज भारत अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय तनावों से जूझ रहा हैं। भाषा, धर्म, जाति, प्रांत के नाम पर अनेक राजनीतिक षड़यन्त्र भी चल रहे हैं। इस परिस्थितियों में एक प्रदेशवासी दूसरे प्रदेश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से अवगत होना चाहिये, जिससे एक दूसरे के प्रति भाईचारे की भावना पनप उठती है।

आंध्र प्रदेश एक ऐसा राज्य है जिसकी अपनी अलग भाषा, साहित्य, इतिहास, सामाजिक एवं राजतीतिक पृष्ठभूमि है। इसके अध्ययन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक–धाराओं में से यह एक अंग मात्र है। इस राज्य के सामाजिक, सांस्कृतिक निर्माण में विभिन्न भारतीय महापुरुषों, धर्मों और आन्दोलनों का प्रभाव भी परिलक्षित है। इसी प्रकार राष्ट्रीय संस्कृति, साहित्य एवं राष्ट्रीय जागरण में तेलुगु भाषियों का अंशदान कम महत्वपूर्ण नहीं है।

आंध्र प्रदेश दक्षिण भारत में स्थित एक ऐसा राज्य है जिसे उत्तर और दक्षिण का संगम कहा जा सकता है। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से आंध्र प्रदेश अन्य दाक्षिणात्य राज्यों की तुलना में उत्तर भारत से बहुत नजदीक है। आंध्र प्रदेश की पूर्वी सीमा बंगाल की खाड़ी से लगी हुई है। इस प्रकार मद्रास से लेकर गोपालापुरम तक सागर तट लगा हुआ है जिसकी लम्बाई एक हजार किलोमीटर है। आंध्र प्रदेश के उत्तर-पश्चिम की दिशा में उड़िसा राज्य, उत्तरी भाग में मध्य प्रदेश, पश्चिमी दिशा में महाराष्ट्र और दक्षिण की दिशा में कर्नाटक एवं तमिलनाडु राज्य उपस्थित हैं।

आँध्र प्रदेश उत्तर में 12-14 अक्षांश से लेकर दक्षिण में 19-34 अक्षांश और पूर्व में 77-50 देशांतर से लेकर 84-50 देशांतर के बीच स्थित है। आंध्र प्रदेश का क्षेत्रफल 2,75,068 वर्ग किलोमीटर है जो उत्तर प्रदेश महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और राजस्थान राज्यों के बाद पांचवा स्थान ग्रहण करता है। आजादी के बाद पहली अक्तूबर, 1953 को तेलुगु भाषी जनता का 'आंध्र' नाम से एक नया राज्य बना। इसमें मद्रास राज्य के श्रीकाकुलम, विशाखापट्टनम, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा, गुण्टूर, नेल्लूर, अनन्तपुर, कडपा, कर्नूल, चित्तूर तथा बल्लारी जिले के तीन ताल्लुक शामिल किये गये। पहली नवम्बर 1956 में राज्य के पुनर्गठन के फलस्वरूप हैदराबाद के आदिलाबाद, वारंगल, करीमनगर, निजामाबाद, मेदक, हैदराबाद, नलगोंड़ा, खम्मम तथा महबूब नगर जिले जो कि पहले तेलंगाना क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध थे, आंध्र प्रदेश में शामिल हो गये। भाषा के आधार पर राज्यों का बंटवारा सबसे पहले आंध्र प्रदेश के साथ ही आरम्भ हुआ।

आंकड़ों के अनुसार सन् 1985 तक आंध्र प्रदेश की आबादी 5.81 करोड़ है जो भारत की आबादी में से 7.82 फीसदी है। इसी राज्य में 86 प्रतिशत लोग हिन्दू धर्मावलम्बी हैं, 8 प्रतिशत मुसलमान और 4 प्रतिशत ईसाई लोग हैं। 86 प्रतिशत लोगों की मातृभाषा तेलुगु है। भारत में हिन्दी भाषियों के बाद तेलुगु भाषियों की संख्या द्वितीय स्थान ग्रहण करती है।

आंध्र शब्द आंध्र प्रदेश और आंध्र जनता दोनों का परिचायक है। 'अन्ध्र' शब्द ही प्राचीन रूप है। आंध्र अनन्तर का विकसित रूप है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में आंध्र शब्द का प्रथम प्रयोग जातिपरक अर्थ में हुआ है। तेलुगु शब्द आजकल आंध्र का पर्यायवाची हो गया है। दसवीं शताब्दी के पहले के शिलालेखों में तेलुगु शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। ग्यारहवीं शताब्दी से तेलुगु शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। आदिकवि नन्नय भट्ट के काल से (11वीं शती ई.) आंध्र और तेलुगु पर्यायवाची हो गये हैं। इन दोनों शब्दों से देश एवं भाषा का बोध होता है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि तेलुगु संस्कृत से विकसित कोई अर्वाचीन प्राकृत है। पर यह धारणा भाषाशास्त्र के नियमों के अनुकूल नहीं है। तेलुगु द्रविड़-परिवार की भाषा है, इसमें कोई संदेह नहीं है। यह मध्य द्राविड़ वर्ग के अंतर्गत है। तेलुगु के 40 प्रतिशत शब्द संस्कृत तत्सम है, दस प्रतिशत उर्दू अंग्रेजी, फ्रेंच,पुर्तगाली और अन्य मिश्रित बोलियों के हैं। तेलुगु भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता के कारण वह द्रविड़ और आर्य भाषाओं के योग से एक विलक्षण अभिव्यक्ति से संवलित है। यह कदाचित् भारत की सभी भाषाओं में तेलुगु को विशिष्ट बना देती है। तेलुगु अजंत भाषा है, उच्चारण के माधुर्य के कारण प्राच्यदेश की इटली भाषा कही गई है। प्रमुख विदेशी विद्वान जे. वी. एस. हालडन ने कहा कि भारत की समस्त भाषाओं में तेलुगु ही एसी भाषा है जो आधुनिक वैज्ञानिक विचारों को व्यक्त करने में अधिक सक्षम हैं। तेलुगु में आर्य और द्रविढ़ दोनों परिवारों की भाषाओं एवं साहित्यों की परम्परायें विद्यमान हैं। इसमें एक रीति 'मार्गी' कहलाती है जो संस्कृत की है। दूसरी रीति 'देशी' है, जो द्रविड़ों की है। यही नहीं, आंध्र आर्य शब्द का है तो तेलुगु देशी शब्द का। यों तेलुगु एक संश्लिष्ट भाषा है। तेलुगु की अपनी लिपि भी है।

आंध्र प्रदेश को ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से तीन इकाइयों में विभाजित किया जा सकता है: 1) बंगाल की खाड़ी से लगे नौ जिले जिसे तटवर्ती जिले (कोस्टल डिस्ट्रिक्टस) या तेलुगु में 'कोस्ता जिल्लालु' कहते हैं। वे इस प्रकार है: श्रीकाकुलम, विजयनगरम, विशाखापट्टनम, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा, गुण्टूर, प्रकाशम और नेल्लूर।

2) तेलंगाना प्रांत के दस जिले: हैदराबाद, रंगारेड्डी, नलगोण्डा, महबूबनगर, खम्मम, वरंगल, करीमनगर, निजामाबाद, मेदक और अदिलाबाद। 3) रायलसीमा के चार जिले : कडपा, कर्नूल, अनन्तपुर और चित्तूर। इस प्रकार आंध्र प्रदेश में कुल 23 जिले हैं। भौगोलिकता की दृष्टि से आंध्र प्रदेश पाँच अन्य भाषी राज्यों से घिरे रहने के कारण यहाँ के सीमावर्ती प्रांतों के लोग तेलुगु भाषा के अलावा उड़िया, हिन्दी, मराठी, कन्नड़ और तमिल भाषायें बोलते हैं।

आंध्र प्रदेश राज्य दक्षिण भारत के भूभाग में पर्याप्त मात्रा में व्याप्त है। प्राचीन काल में दक्षिण का अधिकांश भूभाग मौर्य राजाओं के शासन के अधीन रहा था। चन्द्रगुप्त मौर्य (इ. पू. 322–297) के शासन काल में पधारे विदेश यात्री मेगस्टनीस ने भी आंध्र राजाओं के बल-पराक्रम का वर्णन किया है। गोदावरी तट पर आंध्र राजाओं के साम्राज्य के अस्तित्व के बारे में बौद्ध धर्म की रचनाओं में भी उल्लेख है। राजा अशोक ने भी अपने 13 वें शिलालेख में आंध्र राज्य को अपने अधीनस्त बताया था।

मौर्य वंश के पतन होते ही आंध्र वंश के शातवाहन या सातवाहन राजाओं ने ई. पू. तीसरी सदी से प्रस्तुत आंध्र प्रदेश के अधिकांश भूभाग पर 400 साल तक शासन किया था। शातवाहन राजाओं में सबसे शक्तिशाली राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी जो अपने वंश के 23वां राजा था। उन्होंने सन् 62 से लेकर 86 तक शासन किया था। इस वंश का शासन काल सन् 227 तक समाप्त हो जाता है। शातवाहन वश के 17 वें राजा हाल ने प्राकृत भाषा मे 'गाथा सप्तशति' नामक बृहत पद्य-रचना की थी। हाल राजा के मन्त्री गुणाढ्य ने बृहत कथा मंजरी नामक कहानी संकलन की रचना प्राकृत भाषा में की थी।

सातवाहन राजाओं के समय में आंध्र प्रदेश सभी दृष्टियों से समृद्ध था। तत्कालीन शासन में ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों को समान आदर प्राप्त था। इस वंश के अन्तिम राजाओं में यज्ञश्री शातकर्णी विशेष प्रसिद्ध हुये हैं। इनके शिलालेख नासिक, कार्ली, चिनगंजाम आदि प्रदेशों में प्राप्त हुये। इनका साम्राज्य सुदूर दक्षिण में स्थित कड़लूर से लेकर उत्तर में मालव राज्य तक व्याप्त था। महायान शाखा के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन इन्हीं के समय में हुये थे, जो आंध्र के ही निवासी थे। यज्ञश्री शातकर्णी (ई. सन् 172–205) ने आचार्य नागार्जुन के लिये एक संघाराम का भी निर्माण

कराया था। इनके सिक्कों में नौकायें चित्रित हैं। इन्होंने ईजिप्ट, रोम, ग्रीक, इरान, सिंहलद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, यव, चीन और बर्मा देशों के साथ समुद्र मार्ग पर वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित किया था।

उस समय की राज-भाषा प्राकृत थी। गुहालयों का खूब निर्माण हुआ। अजन्ता का चित्र लेखन इसी समय का है। अमरावती का विश्व-विख्यात बौद्ध-स्तूप भी इसी समय में निर्मित हुआ है। सातवाहन राजाओं के बाद आन्ध्र देश एक ही राजा के शासन में नहीं रहा। सातवाहनों के सामन्तों ने स्वतन्त्र हो अपने–अपने अलग राज्य स्थापित किये। जिनमें इक्ष्वाकु वंशज उल्लेखनीय हैं।

इक्ष्वाकु वंशियों ने विजयपुरी को राजधानी बनाकर अपना शासन प्रारम्भ किया था। विजयपुरी के पास ही श्रीपर्वत है, वहीं आचार्य नागार्जुन रहते थे। कालान्तर में श्रीपर्वत ही नागार्जुन कोण्डा (पर्वत) कहलाया। महान् दार्शनिक नागार्जुन के पाण्डित्य की कीर्ति चारों ओर व्याप्त हो गई। चीन, सिंहल आदि देशों के भिक्षु उनके उपदेश सुनने आते थे। इसीलिये नागार्जुन कोण्डा में बड़े-बड़े भवन बनाये गये। इस प्रकार शिल्पकला की अच्छी उन्नति हुई।

इक्ष्वाकु वंश के पश्चात् पल्लवों और विष्णुकुण्डिन वंश के राजाओं ने राज्य किया। पल्लवों की राजधानी सुदूर दक्षिण कांचीपुरम थी। इतिहासकारों ने पल्लवों का सम्बन्ध पलनाडु (आज के गुण्टूर जिला में) से जोड़ा है। विष्णुकुण्डिन गुण्टूर जिले में स्थित विनुकोण्डा के निवासी थे। इसी युग में आन्ध्र में बौद्धों का प्रभाव समाप्त हुआ।

7वीं सदी के प्रारम्भ में महाराष्ट्र में बादामी नामक नगर में सत्याश्रय पुलकेशी ने चालुक्य शासन की नींव डाली। धीरे धीरे पूर्व की ओर चालुक्यों का राज्य बढ़ने लगा। विष्णुवर्धन चालुक्य ने आन्ध्र देश में चालुक्य राज्य स्थापित किया। सातवाहनों के पश्चात् चालुक्यों के समय में ही आन्ध्र में (सन् 625 से 1070 तक) स्थाई शासन स्थापित हुआ था। चालुक्य राजाओं ने अपने शिला लेखों में संस्कृत और प्राकृत के स्थान पर तेलुगु का प्रयोग प्रारम्भ किया। आन्ध्र में चालुक्यों की राजधानी पहले पहल पिठापुरम में स्थापित हुई, किंतु वहां से वेंगी और फिर राजमहेंन्द्रवरम

में स्थापित हुई ।

चालुक्य राजाओं के शासन काल में तेलुगु भाषा एवं साहित्य का विशेष रूप से विकसित हुआ है। चालुक्य नरेश राजराज नरेन्द्र ने (1011 ई —1027) आदि तेलुगु कवि नन्नय भट्ट से संस्कृत महाभारत को तेलुगु में अनुवाद करने की प्रार्थना की थी। 'आन्ध्र महाभारत' तेलुगु का आदि काव्य ही नहीं, परवर्ती कवियों केलिये प्रामाणिक महाकाव्य भी है। इस प्रकार चालुक्य राजाओं के शासन काल में आन्ध्र साहित्य की उल्लेखनीय प्रगति हुई है। चालुक्य वंश राजाओं की समाप्ति के बाद काकतीय वंश राजाओं ने तीन सौ वर्षो तक (सन् 1000 से 1322 तक) आन्ध्र राज्य पर शासन किया।

काकतीय राजाओं में गणपति देव (1198–1261) अत्यंत पराक्रमशाली थे। इनके समय में राज्य-विस्तार के साथ साहित्य, चित्रकला तथा शिल्पकला की आशातीत उन्नति हुई। शिव भक्ति का अच्छा प्रचार हुआ। राजा गणपति देव की पुत्री राणी रुद्रमदेवी ने अनेक वर्ष शासन किया। किंतु सन् 1322 में अल्लाउद्दीन के प्रतिनिधि मुहम्मद बिन तुगलक ने काकतीय नरेशों को पराजित किया। काकतीय राजाओं ने उत्तर में कलिग से लेकर दक्षिण में कान्जीपुरम तक एक सुविशाल भूभाग पर शासन किया।

काकतीय साम्राज्य के पतन के बाद विशाल आन्ध्र साम्राज्य असंख्य छोटे-मोटे सामन्त राजाओं के अधीन हो गया था। उधर तेलंगाना प्रांत में मुसलमानों का शासन चल रहा था, परन्तु समुद्र-तटवर्ती जिलों में रेड्डी राजाओं ने गुंटूर जिले के अद्दंकी में अपने राज्य की नींव डाली। इन्होंने अनेक सुदृढ दुर्गों का निर्माण करके राज्य को सब तरह से मजबूत किया। रेड्डी राजा साहित्य प्रेमी थे। उन्होंने साहित्यकारों का पोषण ही नहीं किया, अपितु खुद रचनायें भी कीं। राजा कुमार गिरि रेड्डी (सन् 1383–1400) संस्कृत के प्रकाण्ड पन्डित थे। इन्होंने संस्कृत में 'वसंत राजकीयम' नाम से नाट्य-शास्त्र की रचना की है। श्रीनाथ महाकवि ने रेड्डी राजाओं तथा उनके मन्त्रियों को अपनी अधिकांश कृतियां समर्पित की हैं। वेमना कवि भी इसी समय के माने जाते हैं। इनकी तुलना हिन्दी के कवि कबीरदास से की जाती है। रेड्डी राज्य ने सभी क्षेत्रों में अपना वैभव दिखाया, परन्तु

सन् 1450 में इस साम्राज्य का अस्त हो गया।

दक्षिण के इतिहास में विजयनगर साम्राज्य की बड़ी प्रशस्ति हुई है। हरिहर तथा बुक्कराय के समय पुर्तगालवासी वास्कोडिगामा यहाँ आया था। न्यूनिज नामक पुर्तगीज ने विजयनगर का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। सन् 1336 से 1480 तक विजयनगर पर संगम वंश ने राज्य किया। उसके अनन्तर सन् 1480 से 1550 तक सालुव वंश ने राज्य किया। सन् 1480 के पूर्व ही मैसूर, तेलंगाना, राजमहेन्द्रवरम आदि प्रांत इस राज्य के अधीन हो गये थे। तुलुव वंश के राजाओं में श्रीकृष्णदेवराय अत्यन्त विख्यात हुये हैं। तेलुगु साहित्य में इनका समय स्वर्णयुग माना जाता है। कृष्णदेवराय ने दिग्विजय यात्रा करके दक्षिणापथ के अधिकांश भूभाग को अपने शासन के अन्तर्गत ले लिया था। इनके दरबार में अष्टदिग्गज नाम से आठ तेलुगु महाकवियों को अपने दरबार में स्थान दिया था। इनका सभा भवन 'भुवन विजय' नाम से विख्यात था। विदेशों के साथ खूब व्यापार होता था। इनके समय में कलाओं को पूरा प्रोत्साहन मिला। श्रीकृष्णदेवराय मे धार्मिक सहिष्णुता थी. किंतु उनके उत्तराधिकारी बड़े कट्टर थे। अतः धार्मिक विद्वेष के कारण इस समय सभी इसलाम राज्य एक हो गये और विजयनगर राज्य का पतन तालिकोटा के युद्ध मे हो गया।

गोलकोण्डा के नवाबों में कुली कुतुब शाह प्रथम हैं। इन्होंने सन् 1512 से 1543 तक राज्य किया। आंध्र का पूरा प्रांत इनके अधीन नहीं था, तेलंगाना प्रान्त अवश्य था। इस वंश के तीसरे नवाब इब्राहिम ने विजयनगर के पतन में हाथ बंटाया था। इन्होंने सन् 1550 से 1580 तक राज्य किया। नवाब इब्राहिम ने तेलुगु साहित्य एवं तेलुगु कवियों को भी खूब प्रोत्साहित किया। इनके पुत्र मुहम्मद कुतुब ने हैदराबाद (आंध्र प्रदेश का राजधानी नगर) का निर्माण किया था। मुहम्मद के पुत्र अब्दुल हसन ने रायलसीमा जिलों को भी अपने राज्य में मिला लिया। इस वंश के अन्तिम नवाबों में अब्दुल हसन कुतुब शाह थे। ये तानीशा नाम से भी प्रसिद्ध थे। इन्होंने ही रामभक्त कवि और भद्राचल मन्दिर के निर्माता सन्त रामदास को जेलखाने में बन्द किया।

सन् 1687 में औरंगजेब ने गोलकोंण्डा पर विजय प्राप्त की। इस

प्रकार आंध्र देश कुछ वर्ष मुगलों के अधीन हो गया। लेकिन दिल्ली बादशाह के प्रतिनिधि असफजा सन् 1725 में स्वतन्त्र बन बैठा। उनके पुत्रों के आपसी कलह के कारण फ्रान्स वालों ने आन्ध्र के समुद्र तटवर्ती 6 जिलों को हड़प लिया। परंतु अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को पराजित कर उन जिलों पर अपना अधिकार कर लिया। ब्रिटेनवालों ने असफजा निजाम की रक्षा करने का आश्वासन दिया और इस कार्य में लगी अपनी फौजी खर्च के मद्दे रायलसीमा जिलों को निजाम ने ब्रिटेनवालों को समर्पित किया। इस प्रकार आंध्र के ग्यारह जिले अंग्रेजों के अधीन तथा तेलंगाना के नौ जिले हैंदराबाद निजाम के शासन में विभक्त हो गये।

अंग्रेजों के शासन काल में ही तेलुगु भाषियों ने अलग राज्य के लिये माँग की। बापटला में सन् 1913 में आयोजित आंध्र महासभा अधिवेशन में अलग आंध्र राज्य की नींव डाली गयी। इस समस्या को हल करने के लिये सन् 1947 में 'थार कमीशन' की नियुक्ति हुई। भारत के स्वतन्त्र होने पर सन् 1947 में भी आंध्र के ग्यारह जिले मद्रास राज्य के अधीन रह गये। अलग आंध्र राज्य के लिये अनेक आन्दोलन चल पड़े। सरकारी और गैर सरकारी समितियों ने अपने-अपने प्रतिवेदन केन्द्र सरकार को प्रस्तुत किये। लेकिन अलग राज्य के बंटवारे में विलम्ब होते देख सन् 1952 में श्री पोट्टि श्रीरामुलु ने 52 दिन तक आमरण अनशन करके अपने प्राणों की आहुति दी। बाद में पं० जवाहरलाल नेहरू ने मद्रास के ग्यारह तेलुगु भाषी जिलों को अलगकर आंध्र राज्य की घोषणा की। इस प्रकार नवम्बर 1953 को मद्रास राज्य से आंध्र राज्य का विभाजन हुआ। किन्तु तेलुगु भाषी प्रांत तेलंगाना के नौ जिले हैदराबाद में रह गये। आखिर भाषा के आधार पर पहली तारीख नवम्बर 1956 को दोनों तेलुगु भाषी क्षेत्रों को मिलाकर आंध्र प्रदेश राज्य का निर्माण किया गया। इस प्रकार तेलुगु भाषियों के अनवरत संघर्ष के बाद एक सुविशाल एवं सुसम्पन्न आंध्र प्रदेश की स्थापना हुई है।

वस्तुतः किसी राष्ट्र या राज्य का आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास या पतन केवल कुछ व्यक्तियों के प्रयत्न मात्र से सम्भव नहीं हो जाता। राजनीतिज्ञ, सन्त, समाज–सुधारक, राष्ट्र-सेवी आदि प्रतिनिधि मात्र हैं जो समय और प्रवाह को साथ लेकर चलते हैं। स्वतन्त्रता

प्राप्ति तक हमें हजारों वर्ष विदेशियों के आक्रमण और स्वदेशी सामन्त-राजाओं के आंतरिक स्पर्धाओं का सामना करना पड़ा। स्वातन्त्र्य आन्दोलन के पूर्व से पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति और विदेशी शासन से प्रभावित होकर यहाँ के लोगों ने अनेक सामाजिक, राजनीतिक आन्दोलन चलाये। समाज-सुधार, धार्मिक सुधार, मानव मूल्यों का सम्मान, शिक्षा की व्याप्ति, आधुनिक साहित्य का निर्माण, नारी विमोचन आदि अनेक आन्दोलन प्रचारित हुये। ये सभी आन्दोलन राष्ट्रीय पुनरुथान के अंग हैं, जिनका प्रचार और प्रभाव सभी राज्यों पर पड़ा और आन्ध्र प्रदेश इन से अलग नहीं है।

2

तेलुगु लिपि एवं मुद्रण-कला का विकास

तेलुगु भाषा की लिपि अन्य भारतीय लिपियों की भांति ब्राह्मी लिपि से विकसित हुई है। आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले में स्थित अमरावती प्राचीन बौद्ध आराम के रूप में विख्यात है। वहाँ के खण्डहरों की खुदाइयों में प्राप्त शिलालेख से यह पता चला है कि अशोक सम्राट के पूर्वकाल से आंध्र राज्य में लिपि का व्यवहार था। इस लिपि को ब्राह्मी लिपि मानी गई है। सम्राट अशोक द्वारा गुण्टूर जिला भट्टिप्रोलु के बौद्ध स्तूप पर उत्कीर्णित शिला लेख के आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि 'द्राविड़ ब्राह्मी' लिपि का उद्भव इ. पू. तीसरी शती में हुआ है। द्राविड़ ब्राह्मी लिपि या दक्षिण ब्राह्मी लिपि से ही तेलुगु लिपि का विकास हुआ है। आंध्र राज्य पर अनेक राजवंशजों ने शासन किया था। इन नरेशों ने अपने शिलालेखों को अपनी मातृभाषा में ही नहीं, स्थानीय भाषाओं में भी लिखवाया था। प्रत्येक राजवंश के शिलालेख अपने समय तथा परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न शैलियों में पाये गये हैं और उन शिलालेखों की लिपियाँ उन उन राजवंशों के नाम पर प्रचलित हुई हैं। शातवाहन लिपि या आंध्र लिपि, इक्ष्वाकु लिपि, पल्लव लिपि, वेंगी लिपि, चालुक्य लिपि, काकतीय लिपि आदि उक्त तथ्य के सुन्दर उदाहरण है।

सातवीं सदी में चालुक्य राजाओं ने आंध्र राज्य पर शासन किया था। ये नरेश देशी भाषा तेलुगु के प्रेमी थे। इनके शासन काल में तेलुगु भाषा को विशेष आदर मिला और इन्होंने तेलुगु भाषा में ही शिलालेख जारी की। इस समय की लिपि को वेंगी चालुक्य लिपि कही जाती है। इस लिपि को तेलुगु–कन्नड़ लिपि का आरम्भिक रूप भी कहा जा सकता है। यह लिपि कालान्तर में अनेक परिवर्तन होते हुये दसवीं शती तक विकसित हुई, जिसे आधुनिक तेलुगु–कन्नड़ लिपि भी कहा जा सकता है। आदि तेलुगु कवि नन्नया ने इसी लिपि में 'आंध्र महाभारतम' की रचना की थी। लेकिन

तेरहवीं शती के बाद से तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं के लिये लिपि में परिवर्तन पाई गई है। फिर पाश्चात्यों के शासनकाल में मुद्रण-यन्त्रों के आगमन से तेलुगु लिपि और भी सुन्दर और सुनिश्चित प्रकट हुई है।

लिपि के अविर्भाव के बाद मानव-संस्कृति के विकास क्रम में मुद्रण कला का अविष्करण एक अद्वितीय घटना मानी जा सकती है। लेखन और मुद्रण कला विकास से मानव को अनेक लाभ हुए। मानव को अपनी सुख सुविधाओं, ज्ञान एवं अनुभव-सार को इन मध्यमों के जरिये व्यापक मानव-समुदाय तक पहुंचाने में काफी सुविधा हूई। इसी प्रकार किसी एक प्रांत के समाचार संकलन एवं वितरण करने में छपाई काफी सहायक हुई है। इतना ही नहीं, अपने अनुभव तथा ज्ञान-भंडार को अगली पीढियों केलिए सुरक्षित रखने में भी सुविधा हुई है। फलतः ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ समाजिक राजनीतिक एवं धार्मिक क्रांतियां भी विस्फटित हुई।

मुद्रण की परिभाषा नार्मन ए एलीस ने इस प्रकार किया—"मुद्रण कला की सभी विधाओं का लक्ष्य एक या कुछ व्यक्तियों की मनोभावनाओं को मूर्त रूप में अनेक लोगों को बोध गम्य करना ही है।" आगे उन्होंने यह भी कहा— "वह प्रतिलिपि मात्र है जो ध्वनि का संचार नहीं कर सकता, फिर भी उसका (ध्वनि का) संकेत दे सकता है, वह किसी वस्तु का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत नहीं कर सकता, फिर भी उसका रेखा-चित्र प्रस्तुत कर सकता है।" अतः मुद्रण मनोभावनाओं तथा विचारों का वह सम्प्रेषण है जो पाठकों, कभी कभी एक विशेष वर्ग को, साधारणतः सभी वर्गों को आकृष्ट करता है।

विश्व में मुद्रण-कला का आविष्करण सबसे पहले चीनियों के द्वारा सन 770 में हुआ था। नौवीं शती में चीन के बृहत् काव्य-ग्रन्थों का मुद्रण हो चुका था। इस कला का विकसित रूप 'चल टाइपों की पद्धति' को भी चीनवासी पीशिंग ने सन 1301 में आविष्कार किया था। इसके पूर्व टप्पुओं के सहारे पुस्तकों का मुद्रण किया जाता था। ध्यान देने की बात यह है कि यूरोप में सन 1450 के बाद ही मुद्रण-कला का आरम्भ हुआ था।

मुद्रण-कला के विकास के परिणाम स्वरूप यूरोप में 16वीं शती में

जो अभूतपूर्व सामाजिक एवं धार्मिक-क्रान्ति हुई, उसका उल्लेख ए. के. मुखर्जी ने इस प्रकार किया — "इस अद्वितीय आविष्करण के कारण यूरोप में मध्य-युगीन अज्ञान एवं सांस्कृतिक-मूर्खता का भंग हुआ था। जब मानव-समाज संकीर्ण एवं धर्मान्धता के हथकड़ियों से बाहर निकलने के लिये छटपटा रहा था, तब मुद्रण-यन्त्र ने उस समाज को अपूर्व भौतिक कौतूहल एवं द्विगुणीकृत ज्ञानार्जन की प्रेरणा एवं सुविधा प्रदान की। फलस्वरूप निरंकुश धार्मिक शासन का अन्त हुआ था। इस यन्त्र के आविर्भाव से विचारों का आदन-प्रदान एवं विद्वत्ता को पहचानने में सुविधा मिली। पाठकों के साथ विवेकशील लेखकों की संख्या भी बढ़ी थी।"

पाश्चात्यों के भारत में आगमन के साथ यहाँ पर मुद्रण कला का आरम्भ हुआ था। इन विदेशियों के भारत में प्रवेश होने के कारणों में से ईसाई धर्म-प्रचार भी प्रमुख रहा था। अतः भारतीय भाषाओं में बैबिल आदि ईसाई धार्मिक ग्रन्थों का मुद्रण करना पड़ा। इसी उद्देश्य से ईसाई धर्म-प्रचारकों ने यहाँ की देशी भाषाओं का अध्ययन किया था। देशी-भाषाओं के अध्ययनार्थ उन भाषाओं के व्याकरण, शब्द-कोश, आदि मुद्रण कर लेने की भी आवश्यकता पड़ी। दूसरे चरण में इन विदेशियों ने यहाँ पर उपनिवेश राज्यों की स्थापना की। स्थानीय-प्रजा के साथ सम्पर्क बढ़ाने के लिये उनके प्रशासनिक अधिकारियों को देशीय भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य हुआ था। इस दृष्टि से भी देशीय भाषाओं में पाठ्य-पुस्तक, व्याकरण, शब्द-कोश आदि का लेखन एवं मुद्रण की आवश्यकता रही। इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ईसाई मिशनरियों एवं विदेशी प्रशासकों ने भारत देश में मुद्रण-कला को विकसित किया था।

भारत में ईसाई धर्म के प्रचारकों ने ही प्रप्रथम मुद्रण-शाला की स्थापना की। इस प्रकार भारत में सन 1556 में जेसूयेट्र मिशनरी प्रचारकों ने गोवा में प्रथम मुद्रण-शाला खोली। यहाँ पर 'डैट्रिना क्रिष्टा' नामक ग्रन्थ का मुद्रण हुआ था। इस ग्रन्थ को भारत में मुद्रित सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। सन 1578 में तिरुनलुवेली जिला में उनिक्रयल नामक गांव में एक और मुद्रणशाला खुली थी। जेसूयेट मिशनरियों ने ही सन 1579 में कोचीन में दूसरी मुद्रण-शाला की स्थापना की। सन 1602 में पोप ने जेसूयेट मिशनरी के लिये एक मुद्रण-यन्त्र को नैपिकोटा भेजा। इस मुद्रण-

शाला में तमिल, मलयालम, कोंकणी आदि भाषाओं के ग्रन्थ रोमन, लिपि में मुद्रित किया जाता था। ईसाइयों ने पुर्तगाली भाषा में लिखित ईसाई ग्रन्थों को मलयालम भाषा में अनूदित कर सन 1616 के आसपास मुद्रित किया।

उल्लेखनीय बात यह हैं कि तेलुगु भाषा में और वह भी तेलुगु-लिपि में सर्व-प्रथम तेलुगु प्रान्त से सुदूर जर्मन देश में ग्रन्थों का मुद्रण हुआ था। 18वीं शती में सर्वप्रथम तेलुगु ग्रन्थ प्रकाशित करने का श्रेय ईसाई धर्म प्रचारक बेंजामन शूरजी को है। इस तथ्य का उल्लेख डॉ० जे. मङ्गम्मा ने इस प्रकार किया है — "तेलुगु मुद्रण कला के विकास की दशा में डेनमार्क के राजा फ्रेड़रिक द्वारा भेजे गये जर्मन देशवासी, प्रोटेस्टंट धर्म–प्रचारक बेंजामन शूरजी की सेवायें अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।" आपने तेलुगु, तमिल, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया। शूरजी सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वान थे जिन्होंने तेलुगु भाषा में ग्रन्थ रचना ही नहीं की अपितु तेलुगु पुस्तकों का मुद्रण भी किया था। दस वर्षों तक आप मद्रास में रह चुके थे। सन 1742 में जर्मन चले गये। तब तक तेलुगु लिपि में मुद्रण कार्य आरम्भ नहीं हुआ था। इसलिये ईसाई धर्म के प्रचारार्थ तेलुगु में धार्मिक पुस्तकों के मुद्रण करने क निर्णय ले लिया। बेंजामन शूरजी ने सन 1746 में जर्मन के हेल नगर में चार तेलुगु पुस्तकों का मुद्रण किया। ये पुस्तकें आज भी ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय, लन्दन में सुरक्षित हैं।

बेंजामन शूरजी के बाद तेलुगु मुद्रण में श्रीरामपुर मिशनरियों की सेवायें उल्लेखनीय हैं। मत्तय, लूई मार्क सुवार्ता, आदि तेलुगु ग्रंथ श्रीराम-पुर मुद्रणशाला में सन् 1812 में मुद्रित हुये थे। इस प्रकार 18वीं शती के मध्य और 19वीं शती के आरम्भ काल में तेलुगु प्रांत से कहीं दूर जर्मन और कलकत्ता के निकट श्रीरामपुर में तेलुगु-मुद्रण कार्य की आरंभिक दशा ईसाइयों के द्वारा सम्पन्न हुई थी।

श्रीरामपुर के बाद तेलुगु मुद्रण में मद्रास नगर में महत्वपूर्ण कार्य हुआ था। तब मद्रास नगर सारे दक्षिण भारत की राजधानी रही थी। सन् 1812 में मद्रास में फोर्ट सेईट जार्ज कालेज की स्थापना हुई। सन् 1816 के पूर्व कोई उल्लेखनीय तेलुगु पुस्तक मद्रास में मुद्रित नहीं हुई थी। फोर्ट सेईट जार्ज कालेज की तरफ से सन् 1816 में ए. डी. काम्बेल द्वारा लिखित 'तेलुगु व्याकरण' का मुद्रण मद्रास में हुआ। सन् 1819 के आस

पास मद्रास में पहली बार तेलुगु की मुद्रण-टाइपों को ढालने का प्रयत्न किया गया। 'विक्रमार्कुनि कथलु' (विक्रमार्क की कथायें) नामक गद्य-पुस्तक फोर्ट सेंईट जार्ज कालेज के तेलुगु भाषा के प्रधानाचार्य राविपाटि गुरूमूर्ति शास्त्री जी ने लिखा था. जिसका मुद्रण सन् 1819 में कालेज के मुद्रणालय में ही हुआ था। इस ग्रंथ को एक तेलुगु भाषी द्वारा लिखित एवं मुद्रित प्रथम ग्रंथ माना जाता है। इसी प्रकार ए. डी. काम्बेल का 'तेलुगु शब्द-कोश' भी कालेज की मुद्रणशाला में सन् 1821 में मुद्रित हुआ था। सन् 1818 में मद्रास रेलीजियन सोसाइटी की स्थापना हुई, जिसके द्वारा कबीर दस लाख से अधिक ईसाई धर्म प्रचार संबन्धी पुस्तकें प्रकशित हुईं। उसी वर्ष (1818) में ही मद्रास में 'मद्रास ट्रक्ट सोसाइटी' की स्थापना हुई। परिणाम स्वरूप लाखों की संख्या में ईसाई धर्म की पुस्तकें मुद्रित होने लगीं। सन् 1820 में मद्रास स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना हुई। एक दशाब्दी में हीं अनेक पाठ्य-ग्रंथ, छन्द.शास्त्र, वेमना के पद्य, पंचतंत्र आदि का मुद्रण हुआ था। विलियम ब्राऊन, काम्बेल, जे. सी. मोसिज, सी. पी. ब्राऊन— इन चारों अंग्रेजों ने मुद्रण के विकास में विशेष योगदान प्रस्तुत किया था।

तेलुगु मुद्रण के विकास की दिशा में मद्रास नगर के बाद कर्नाटक राज्य में स्थित बल्लारी और आंध्र प्रदेश में स्थित विशाखापट्टनम उल्लेख-नीय हैं। बल्लारी मिशन सन 1812 में और बल्लारी ट्राक्ट सोसाइटी 1815 में आरम्भ हुई। इन दोनों संस्थाओं ने मुद्रण शालायें खोलीं। बल्लारी में अनेक ईसाई धर्म की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि सर्वप्रथम तेलुगु पत्र 'सत्यदूत' बल्लारी में ही सन 1835 में प्रकाशित हुआ था।

तेलुगु मुद्रण के सन्दर्भ में बल्लारी के बाद विशाखापट्टनम उल्लेख-नीय नगर है। सन 1805 के आसपास लन्दन मिशन सोसाइटी वाले विशाखापट्टनम पहुंच गये। रिवरेण्ड अगस्त डे ग्रेंज, जार्ज क्राम्— इन दोनों ईसाई धर्म प्रचारकों ने तेलुगु भाषा सीखकर मत्तयी, मार्क लुई सुवार्ताओं का अनुवाद किया। इनकी पुस्तकों का मुद्रण आरम्भिक दशा में श्रीरामपुर में होता था। इसी प्रकार विशाखापट्टनम में लन्दन मिशन वालों ने सन 1840 में मुद्रण कार्य तेलुगु में आरम्भ किया था।

कालान्तर में मचिलीपट्टणम, काकिनाडा आदि अन्य तेलुगु भाषी शहरों में मुद्रण शालाओं की स्थापना ईसाइयों के द्वारा हुई। इस प्रकार ईसाई धर्म प्रचारक एवं कम्पनी के अधिकारियों ने तेलुगु मुद्रण कला के विकास में अविस्मरणीय सेवायें की थीं। फलस्वरूप तेलुगु भाषा में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में मुद्रण कला का विकास और तेलुगु लिपि में एकरूपता प्राप्त हुई। आगे चलकर तेलुगु भाषा में समाचार पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। उन्नीसवीं शती के चौथे दशक से देशवासियों में सीमित मात्रा में ही सही शिक्षा का प्रसार, पाश्चात्य साहित्य, संस्कृति आदि का परिचय प्राप्त हुआ। विदेशी सरकार की ओर से देश में याता–यात, रेल, डाक–तार आदि की व्यवस्था की गई। परिणाम स्वरूप तेलुगु भाषा एव आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधायें जैसे कि काव्य, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि प्रकाश में आयीं।

इस संदर्भ में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तेलुगु में मुद्रण-कार्य के विकास के परिणामस्वरुप पाश्चात्य संस्कृति, साहित्य एवं विचारों के साथ तेलुगु भाषियों को स्वभाषा, साहित्य, राष्ट्रीय विकास, स्तवन्त्रता आदि के बारे में पढ़ने और सोचने का सुअवसर मिला था। इस प्रकार राष्ट्रीय जागरण के सन्दर्भ में मुद्रण कला ने पूर्व–पीठिका के रूप में काम किया था।

3

तेलुगु पत्रकारिता के युग प्रवर्तक कन्दुकूरि वीरेशलिंगम

कन्दुकूरि वीरेशलिंगम को राष्ट्रीय पुररुत्थान काल के महापुरुषों की गणना में बड़े आदर के साथ उल्लेख किया जाता है। वे एक सफल समाज-सुधारक के रूप में सारे दक्षिण में विख्यात हुये हैं। उन्नीसवीं शती के द्वितीयार्ध में पले तेलुगु भाषी वीरेशलिगम ब्रह्म समाज से काफी प्रभावित हूये थे। एक गरीब परिवार में जन्मे वीरेशलिंगम अपने कठिन परिश्रम तथा प्रतिभा के बल पर आम आदमी के दर्जे से ऊपर उठकर क्रांतिकारी समाज-सुधारक बन गये थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि एक सच्चे समाज-सुधारक के लिये समाज के सभी पहलुओं पर गम्भीर अध्ययन–मनन करने की आवश्यकता होती है। इसी लिये उन्होंने प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन किया था। फलतः भाषा, साहित्य, पत्रकारिता, इतिहास आदि को समाज–सुधार के साधन के रूप में भली–भांति उन्होंने उपयोग कर लिया था। इस निबन्ध में तेलुगु पत्रकारिता के क्षेत्र में वीरेशलिंगम ने जो अभूतपूर्व चेतना लाई उसका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

वीरेशलिगम ने उन्नीसवी शती के चतुर्थ भाग में तेलुगु में अनेक पत्रों को स्वयं प्रकाशित किया और अनेकानेक तेलुगु पत्रों का मार्ग-निर्देशन भी दिया था। उन्होंने सन 1874 में 'विवकवर्धनी' नामक तेलुगु पत्र का प्रकाशन राजमण्ड्री से आरम्भ किया था। विवेकवर्धनी पत्र के पूर्व अधिकांश तेलुगु पत्र कुछ विद्वानों के मनोरंजन मात्र करते थे। लेकिन वीरेशलिंगम ने अपनी अपूर्व प्रतिभा एवं कर्मठता के बल पर तेलुगु पत्रों को जन सामान्य के विकास के लिये उपयुक्त साधन के रूप में परिमार्जित किया था। फलतः वीरेशलिंगम युगीन तेलुगु पत्र पत्रिकाओं की भाषा विषय एवं प्रस्तुतीकरण पर विवेकवर्धनी पत्र का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

वास्तव में वीरेशलिंगम तेलुगु पत्रकारिता के निर्माता ही नहीं, वरन् आधुनिक तेलुगु भाषा एवं साहित्यिक विधाओं के जनक भी थे। इस उक्ति के पक्ष में ख्याति प्राप्त तेलुगु पत्रकार नार्ल वेंकटेश्वर राव का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है— "वीरेशलिंगम आधुनिक तेलुगु पत्रकारिता और उपन्यास के जनक थे। आप तेलुगु के सर्वप्रथम नाटककार, व्यंग्यकार, जीवनीकार, आत्मकथाकार, साहित्य के इतिहासकार, विज्ञान–लेखन और स्त्रियों व बाल–साहित्य के प्रणेता भी थे।" उक्त तथ्यों के कारण विवेकवर्धनी पत्र के प्रकाशन के समय (1874) से लेकर उन्नीसवीं शती के अन्त तक की तेलुगु पत्रकारिता को वीरेशलिंगम युग माना जाता है।

वीरेशलिंगम ब्रह्म-समाज से काफी प्रभावित हुए थे। सामाजिक एवं धार्मिक-सुधार उनके जीवन के मुख्य अंग बन गए थे। उक्त आशयों की सिद्धि केलिए आपने तेलुगु भाषा, साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओं को सशस्त्र-साधन का रुप दे दिया था। वीरेशलिंगम ने अक्तूबर 1874 में 'विवेकवर्धनी' पत्र को पहले मासिक के रूप में मद्रास के 'संजीवनी मुद्राक्षरशाला' से छपवाया था। फिर वह पत्र जुलाई 1876 में पाक्षिक और 1885 से साप्ताहिक पत्र का रुप ले चुका था। इस से 'विवेकवर्धनी' पत्र की लोकप्रियता स्पष्ट हो जाती है। इस पत्र का प्रकाशन सन् 1891 तक जारी रहा था। 'विवेकवर्धनी' पत्र के प्रथम अंक में ही पत्र-प्रकाशन के मूल उद्देश्यों को वीरेशलिगम ने इस प्रकार प्रकट किया था — 'समाज-सुधार, धार्मिक-सुधार के साथ तेलुगु गद्य भाष को सरल रुप प्रदान करना और गद्य–साहित्य की विविध विधाओं को नये रुप में ढालने का निश्चय कर लिया था।

वीरेशलिगम को 'विवेकवर्धनी' के माध्यम से समाज-सुधार के साथ सामयिक असामाजिक तत्त्वों की खबर लेने की लालसा अधिक रही थी। साधारण व्यक्तियों केलिये इस तरह की जोखिम उठाना कोई आसान की बात नहीं थी। फिर भी आपने तत्कालीन सरकारी कर्मचारियों, धार्मिक एवं सामाजिक विसंगतियों के पक्षधरों, घूसखोर, वेश्यागामियों का कड़ा विरोध किया था। जिससे आपको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस सन्दर्भ में विवेकवर्धनी के आरंभिक अंक का यह उद्धरण अत्यन्त उल्लेखनीय हैं— "यदि घूसखोरी की निन्दा की जाय तो सरकारी नौकर नाराज हो जायेंगे, वेश्या–प्रथा की भर्त्सना की जाय तो शहर के

दुश्चरित्र लम्पट क्रुद्ध हो जायेंगे, यदि मरी पड़ी रीति–रिवाजों पर प्रहार किया जाय तो मूर्ख एवं कट्टरपन्थी हमारी जान के पीछे पड़ जायेंगे। धर्म के बाह्याडम्बरों का खण्डन करेंगे तो पुजारी हम से बदला ले लेंगे। इस प्रकार चुने हुये उद्देश्यों की सीमित मात्रा में ही सही 'पत्रिका' करती है तो समाज के अनेक वर्गों के क्रोध का सामना करना पड़ेगा।''

वस्तुतः वीरेशलिंगम सुशिक्षित एवं निर्भीक समाज-सुधारक ही नहीं, अपितु अडिग आस्तिक भी थे। अंग्रेजों के शासन काल में स्थानीय अंग्रेज अधिकारियों की घूसखोरी और अत्याचारों के खिलाफ निरन्तर अपने पत्र के द्वारा प्रहार करते रहे और अत्यन्त चतुराई के साथ अपने विरोधियों के तमाम षड़यन्त्रों से बच निकलते थे। इसी प्रकार आप अपने पत्रों के माध्यम से स्त्री-शिक्षा, विधवा–विवाह का समर्थन और वृद्ध एवं बाल–विवाहों, वेश्या–प्रथा आदि अन्य सामाजिक कुप्रथाओं का डटकर खण्डन करते थे।

आधुनिक विचारधारा के समर्थक वीरेशलिंगम को जीवन पर्यन्त सनातन एवं कट्टरपन्थियों से संघर्ष करना पड़ा था। इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत करना इसलिये उचित माना जा सकता है कि उक्त संघर्ष एवं खण्डन-मण्डन पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ था। 'आन्ध्र भाषा संजीवनी' के सम्पादक आचार्य कोक्कोण्डा वेंकटरत्नम पन्तुलु एक महान विद्वान थे, जिन्हें संस्कृत, तेलुगु, तमिल, कन्नड़, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर परिपूर्ण अधिकार प्राप्त था। लेकिन वस्तुतः वे एक परम्परावादी विद्वान थे। भाषा, समाज, धर्म आदि विषयों पर कोक्कोण्डा वेंकटरत्नम और आधुनिक विचारक वीरेशलिंगम के बीच काफी मतभेद थे। ये दोनों विद्वान अपने अपने पत्रों के माध्यम से विद्वत्तापूर्वक प्राचीन धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों से टिप्पणियाँ उद्धृत करते हुये उत्तेजनापूर्ण एवं कटु व्यंग्य के साथ वाद-विवाद चलाते थे। कोक्कोण्डा ने वीरेशलिंगम के विचारों की अवहेलना एवं खण्डन करने के लिये 'आन्ध्र भाषा संजीवनी' की उप-पत्रिका के रूप में 'हास्यवर्धनी' को निकाला। इसके विपरीत वीरेशलिंगम ने 'विवेकवर्धनी' की उप-पत्रिका के रूप में 'हास्य संजीवनी' को निकाला। इन पहुंचे हुये विद्वानों के आपसी वाद–विवादों में तत्कालीन लेखक भी रूचि लेते थे, इतना ही नहीं तेलुगु पत्रकारिता एवं साहित्य को नयी चेतना व स्फूर्ति मिली थी।

पिछले पृष्ठों में यह स्पष्ट किया गया है कि वीरेशलिंगम ने आधुनिक तेलुगु साहित्य की विविध विधाओं का शुभारम्भ एवं परिमार्जन किया था। उनके अधिकांश निबन्ध, प्रहसन, नाटक, उपन्यास, आलोचना, जीवन-चरित, आत्म-चरित आदि रचनायें समकालीन पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये थे। ध्यान देने की बात यह है कि आपके बृहत् साहित्य को अपने जीवनकाल में ही अनेक जिल्दों में स्वयं प्रकाशित कर अगली पीढ़ियों के लिये सुरक्षित कर दिया था।

वीरेशलिंगम का लोकप्रिय एवं प्रथम तेलुगु उपन्यास 'राजशेखर चरित्रमु' सन 1878 में विवेकवर्धनी पत्र में बारी-बारी से प्रकाशित हुआ था। 'अपूर्व ब्रह्मचर्य' आदि अनेक प्रहसन एवं नाटक इसी पत्र में प्रकाशित हुये थे। 'कविराज मनोरंजनमु' आदि प्राचीन तेलुगु काव्यों का प्रकाशन भी 'विवेकवर्धनी' में पहली बार हुआ था।

'विवेकवर्धनी' पत्र के अलावा वीरेशलिंगम ने सन् 1876 में 'हास्य संजीवनी', स्त्री समाज की उन्नति केलिए सर्वप्रथम सन् 1883 में 'सतीहितबोधिनी', सन् 1891 में न्यापति सुब्बाराव की सहायता से 'चिंतामणि' नामक साहित्यिक-पत्र का प्रकाशन किया था। इसी प्रकार सन् 1894 में रायसं वेंकट शिवुडु के साथ मिलकर औरतों के लिए योग्य और एक 'जनाना पत्रिका' का संपादन किया था।

अपने पत्रों के माध्यम से तेलुगु भाषा को सरल एवं सुलभ-ग्राह्य बनाने का आपने भरमक प्रयत्न किया था। इस संदर्भ में अपनी आत्मकथा के द्वितीय भाग में भाषा के संदर्भ में इस प्रकार उल्लेख किया था — 'भाषा का प्रयोजन क्या है? उसका प्रयोजन इतना ही है कि लोग अपने विचारों को इस तरह व्यक्त करना चाहिए कि सुनने पढ़नेवाले तुरन्त समझ सके। यदि कोई व्यक्ति किसी भाषा में ग्रंथ लिखता है तो उसका उद्देश्य यही रहता है कि अपने विचारों को आसपास के ही नहीं दूर दराज के पाठक भी पढ़कर आनंद उठा सके और उसकी तमन्ना यह भी रहती है कि अगली पीढ़ियां भी अपने विचारों से लाभ उठा सके। ... ... जो लोग थोड़ी बहुत पढ़ना जानते हैं, वे भी बिना किसी शब्द-कोश अथवा विद्वान की सहायता लिए ग्रंथों का भावार्थ नहीं समझ सके तो लेखक का सारा श्रम व्यर्थ हो ही जाएगा। इसीलिए हमें सरल भाषा और सुन्दर शैली में पुस्तक लिखनी

चाहिए जिससे सामान्य जनता भी लाभ उठा सकें। अत: यह निश्चय मैंने अपनी हद तक सीमित नहीं रखा, अपितु अपने पत्रों द्वारा मैं इस नीति का प्रचार भी करता हूँ।" इस प्रकार वीरेशलिंगम ने पत्रकारिता के माध्यम से तेलुगु भाषा, साहित्य, एवं समाज की अनुपम सेवा की थी।

कन्दुकूरि वीरेशलिंगम और वाविलाल वासुदेवशास्त्री ने जनवरी 1881 में विवेकवर्धनी के उप-पत्रिका के रुप में 'चिंतामणि' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। गौतमी पुस्तकालय में उपलब्ध 'चिंतमणी' पत्र की पुरानी प्रतियों के मुखपत्र पर अंग्रेजी में इस प्रकार छापा गया था— "सप्लीमेंट टु दि विवेकवर्धनी/चिंतामणि/मन्त्ली मागजैन आफ लिटरेचर, साइन्स, आर्ट्स, रिलीजियन एण्ड मोरालिटी।" मुखपत्र के विवरण और पत्र के विषयों के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि 'चिंतामणि' साहित्य, विज्ञान, कला, धर्म एवं नीति संबंधी मासिक पत्र था। डॉ. अक्किराजु रमापति राव के अनुसार यह पत्र एक या दो वर्ष तक चलकर बन्द हो गया था। इसी पत्र में वीरेशलिंगम पंतुलु का विख्यात 'अभिज्ञान शाकुंतलम' नाटक का तेलुगु अनुवाद प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार वाविलाल वासुदेवशास्त्री का 'उत्तर रामचरित्रमु' भी इसी पत्र में निकला था।

कन्दुकूरि वीरेशलिंगम को एक सर्वोच्छ समाज सुधारक के रूप में ख्याति प्राप्त हुई थी। लेकिन आप केवल समाज सुधारक ही नहीं, आधुनिक तेलुगु भाषा एवं साहित्य के भी युगप्रवर्तक थे। आपने 'चिंतामणि' पत्र के अगस्त ऐवं सितंबर 1881 के संयुक्तांक में भाषा के आधुनिकीकरण सम्वन्ध में जो विचार व्यक्त किये थे, आज भी नवीन मालूम पड़ते हैं। वे विचार इस प्रकार हैं: आज ऐसे अनेक नये विषय पहचान लिये गये हैं जिनसे प्राचींन काल के मानव बिल्कुल अनभिज्ञ थे। यदि हम ऐसे विषयों को अपनी भाषा में लाकर छाप लेना चाहें, और उन नये नये शास्त्रों को तेलुगु में अनूदित कर छापना चाहेंगे तो ऐसे करोड़ों अपरिचित शब्दों को नये सिरे से व्यवहार में लाना पड़ता है। आगे हमें इस समस्या का निदान कर लेना चाहिए कि ऐसे नवींन शब्द जो स्वाभाविक रुप से अपनी भाषा में आकर मिल जुलकर चलनेवाले विदेशी शब्दों को ले लेना चाहिये या नये नये विषयों को भी प्रेषित करने योग्य नवीन संस्कृत शब्दों को गढ़

लेना चाहिये ।" एक सौ वर्ष के पूर्व के वीरेशलिंगम के विचार आज 20वीं सदी के अंतिम दशाकों के विद्वानों केलिए भी अपरिष्कृत रह गए हैं ।

स्वयं वीरेशलिंगम ने तेलुगु भाषा में शरीर-शास्त्र, जन्तु-शास्त्र, माता शिशु संरक्षण आदि अनेक नवीन विषयों को अनूदित कर लाखों नये शब्दों का तेलुगु में आविष्कार किया था । इसी वजह से आपको आधुनिक तेलुगु भाषा एवं साहित्य के 'गद्य ब्रह्म' भी कहा जाता है ।

कन्दुकूरि वीरेशलिंगम ने भाषा, साहित्य, समाज, शिक्षा, धर्म आदि अनेक क्षेत्रों में सक्रिय भाग लिया और तेलुगु भाषियों में आधुनिक युग के अनुकूल वैचारिक-क्रान्ति लाने में सफल हुये थे । ध्यान देने की बात यह है कि वीरेशलिंगम ने अपना अधिकांश जीवन स्त्री-जन के उद्धार के लिये अर्पित किया था । इन्होंने सैंकड़ों विधवा-विवाह करवाये, स्त्रियों के लिये अनेक पाठशालायें खोलीं, अनाथ स्त्री शरणालय चलाया था । नारी-उद्धार एवं स्त्री शिक्षा के प्रचारार्थ वीरेशलिंगम ने पहली बार तेलुगु में सन 1883 में राजमण्ड्री से 'सतीहित बोधिनी' नामक मासिक पत्र निकाला था । स्त्रियों के उपयोगार्थ प्रकाशित इस पत्र की भाषा एवं विषय की दृष्टि से बहुत सरल है । इस पत्र के माध्यम से आपने स्त्रियों में व्याप्त अन्ध-विश्वासों को दूर करना, शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का विकास, शिशु-पालन, देश-विदेश की सुविख्यात स्त्रियों के जीवन चरित आदि प्रकाशित करते थे । साथ ही नीतिपरक कथा, प्रहसन, नाटक आदि प्रकाशित करते थे । इस पत्र की भाषा एवं विषय स्त्रियों के लिये ही नहीं बच्चों के लिये भी सुलभग्राह्य एवं उपदेशात्मक है । 'सतीहित बोधिनी' वीरेशलिंगम के सम्पादन में सन 1889 तक प्रकाशित हुई थी ।

उन्नीसवीं शती के चतुर्थ भाग में वीरेशलिंगम सफल समाज-सुधारक के रूप में सारे दक्षिण में विख्यात हो गये थे । इसके लिये इन्होंने पत्र-कारिता को भरपूर उपयोग कर लिया था । लेकिन उनके मन में आधुनिक तेलुगु साहित्यिक विधाओं के विकास के लिये एक उत्तम साहित्यिक पत्रिका को निकालने की तमन्ना रही थी । अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कार्यकलापों में व्यस्त रहने के कारण वीरेशलिंगम ने अपने मित्रवर न्यापति सुब्बाराव की सहायता से 'चिन्तामणि' नामक साहित्यिक पत्र निकाला । वीरेशलिंगम ने इस पत्र में सामाजिक, साहित्यिक एवं ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अनेक रचनायें

प्रकाशित की। इस पत्र के वर्ष 2, अंक 1, जुलाई 1892 में 'चिन्तामणि' पत्र के उद्देश्यों को इस प्रकार प्रकट किया था।— "राष्ट्र एवं भाषा का विकास, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, नीतिपरक निबन्ध, देश के आचार-व्यवहारों को प्रकट करने वाले मनोरंजक उपन्यास, संस्कृत या अंग्रेजी से अनूदित अच्छे नाटक, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा से सम्बन्धित रचनायें, महापुरुषों के जीवन-चरित आदि विषय इस पत्र में प्रकाशित किये जायेंगे।" चित्र-सहित प्रकाशित करने वाले इस मासिक पत्र की पृष्ठों की संख्या करीब साठ की थी।

आधुनिक तेलुगु उपन्यास के विकास में चिन्तामणि मासिक पत्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। सन 1892 में चिन्तामणि पत्र के सम्पादक ने वीरेशलिंगम की प्रेरणा से उपन्यास लेखन की प्रतियोगिता आरम्भ की थीं। प्रति वर्ष यह प्रतियोगिता आयोजित की जाती थी। इस प्रतियोगिता में प्रथम विजेता को 125 रुपये और द्वितीय विजेता को 75 रुपये के पुरस्कार दिये जाते थे। पुरस्कृत उपन्यासों को चिन्तामणि में धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया जाता था। इस प्रकार तेलुगु उपन्यास विधा को विकसित एवं प्रचलित करने में और आरम्भिक उपन्यासकारों की पीढ़ी को तैयार करने में चिन्तामणि पत्र का योगदान अविस्मरणीय है। इस प्रतियोगिता से प्रेरणा ग्रहण कर उन्नीसवीं शती के सर्वश्रेष्ठ तेलुगु उपन्यासकार चिलक-मर्ति लक्ष्मीनरसिंहम, गोटेटि कनकराजु, खण्डविल्लि रामचन्द्रुडु आदि ने उपन्यास विधा के विकास में विशेष योगदान दिया है।

इस प्रकार कन्दुकूरि वीरेशलिंगम ने उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशकों में आंध्र प्रदेश में सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक क्रांति लाने में पत्रकारिता को एक सशक्त माध्यम के रूप में विकसित किया है।

4

दक्षिण के स्वातंत्र्य-योद्धा : आन्ध्र केसरी टंगुटूरि प्रकाशम

हजारों वर्षों की भारतीय सांस्कृतिक एकता को साकार रूप देने का स्तुत्य कार्य राष्ट्रीय जागरण काल में संपन्न हुआ है। भारत की सार्वभौमिकता, स्वतंत्रता एवं जनतंत्रात्मक प्रशासन की प्राप्ति केलिए राष्ट्र के सभी प्रांतवासियों ने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध अनेक आंदोलन चलाये थे। दक्षिण भारत में राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करनेवालों में टंगुटूरि प्रकाशम, राजगोपालाचारी और पट्टाभी सीतारामय्या को सर्वोच्च राजनीतिज्ञ माने जाते हैं। इन तीनों में टंगुटूरि प्रकाशम का त्याग एवं साहस अद्वितीय है। स्वतंत्रता-संग्राम में अन्य दोनों नेताओं से बढ़कर इन्होंने अंग्रेजों का कड़ा विरोध किया। मुख्यतः साइमन आयोग के मद्रास पहुँचने पर अपने नेतृत्व में जो जन आन्दोलन चलाये और जिस निर्भीकता के साथ 144 सेक्शन को धिक्कार कर सिपाहियों की बन्दूकों के सामने अपनी छाती तानकर आगे बढ़े उस ऐतिहासिक सत्य को कोई भी मिटा नहीं सकता। इन्होंने गांधी के सम्पर्क में आकर महीने में हजारों रुपये की आय की वकालत को तिलांजलि दी और भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में प्रमुख नेता बनकर तन मन और धन से भी राष्ट्र की सेवा की।

प्रकाशम एक निर्भीक एवं स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनका बाल्य–जीवन गरीबी में गुजरा। फिर भी उनमें आत्म विश्वास और दृढ़-संकल्प की मात्रा अधिक थी। इसी वजह से कुछ सन्दर्भों में उनका गांधीजी से भी मन-मुटाव हुआ करता था। लेकिन प्रकाशम की राजनीतिज्ञता और कार्य–कुशलता की तरफ़ उंगली उठाने का साहस किसी में नहीं था।

प्रकाशम का जन्म प्रकाशम जिले के कनपर्ति गाँव में सन 1872 को एक गरीब परिवार में हुआ था। बचपन में प्रकाशम बहुत जिद्दी और

नटखट लड़के थे। जब प्रकाशम बारह साल के लड़के थे तब पिताजी की मृत्यु हो गई। उनकी माता सुब्बम्मा ने स्वयं तकलीफों को झेलकर प्रकाशम को पढ़ाने लगी। धीरे-धीरे प्रकाशम पढ़ाई की तरफ अधिक ध्यान देने लगे। ओंगोल के वकीलों ने प्रकाशम का ध्यान आकृष्ट किया। और प्रकाशम ने यह निश्चय कर लिया कि मुझे भी वकील बनना है। उसी लक्ष्य के प्रयत्न में गरीब प्रकाशम को कई तकलीफों का सामना करना पड़ा।

आखिर जिस शहर के प्लीडरों की शान-शौकत देख–देखकर सपनों में खोये रहते थे अब प्रकाशम उसी शहर के प्लीडर बनकर आ गये। प्रकाशम जिस किसी का मुकद्दमा हाथ में लेते उसे जरूर जीत जाते थे। धीरे–धीरे प्रकाशम की कीर्ति दूर-दूर तक फैलने लगी। और एक कदम आगे चलकर राजमहेंद्री नगर में अपनी वकालत शुरू की। वहाँ पर भी प्रकाशम ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिखाया। हमेशा किसी न किसी काम में झूझते रहना प्रकाशम का स्वभाव था। इसलिये राजमहेन्द्री नगर-पालिका की तरफ अपना ध्यान दिया। सन 1901 में नगरपालिका के चेयरमैन बने। यही राजनैतिक अनुभव उन्हें आगे चलकर स्वातन्त्र्य-योद्धा और उसके बाद आन्ध्र राजनीति में सफल नेता बनने में भी सहायक सिद्ध हुआ।

प्रकाशम ने अपने दृढ़ संकल्प और अटूट परिश्रम के कारण कई सीढ़ियाँ पार की थी। फिर भी वे संतुष्ट नहीं हुये। आगे और पढ़ने को जी चाहता था। बैरिस्टरी पास करना उन दिनों में बहुत बड़ी बात मानी जाती थी और उसकी पढ़ाई लंदन में ही होती थी। अत: प्रकाशम लंदन में बैरिस्टरी पढ़ने चले गये। वहां पर प्रकाशम भारत में स्वतंत्रता संग्राम के जो आंदोलन चल रहे थे उनके बारे में जानने में अधिक रूचि लेते रहे। उसी शहर में उन्हें भारत के कई देशभक्तों के दर्शन हुये। लन्दन इण्डियन सोसाइटी के सदस्य बनकर दादाभाई नौरोजी, गोखले, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी आदि पहुँचे हुये राष्ट्रीय नेताओं से सम्पर्क स्थापित कर लिया। उस वक्त उन्हें कांग्रेस से बढ़कर बंगाल के उग्रदलीय नेताओं तथा बालगंगाधर तिलक और लाजपतराय के प्रति अधिक सहानुभूति रही। लन्दन में रहते समय समाजवाद, विश्व की प्रमुख क्रांतियाँ आदि अनमोल ग्रन्थों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। स्वतन्त्रता के महत्व को पहचानने का मौका उन्हें इसी शहर में मिला था।

लन्दन में बैरिस्टरी पास करके प्रकाशम मद्रास पहुँचे। हाईकोर्ट में वकालत करने का संकल्प कर लिया। वहाँ के कई बैरिस्टर उन्हें निरुत्साहित करने लगे कि मद्रास नगर में साधारण बैरिस्टरों को वकालत करना आसान नहीं है। फिर भी प्रकाशम ने आत्म-विश्वास नहीं गंवाया। तकलीफों से लड़ने का उन्हें बचपन से ही अनुभव था। कुछ ही महीनों में वहाँ के वकील और जज प्रकाशम की प्रतिभा को देखकर चकित रह गये। इधर वकालत करते समय कुछ ऐसे प्रसंग भी आये कि जजों को भी अपनी भूलें सुधारने के लिये प्रकाशम ने चेतावनी दी। प्रकाशम ने अपनी चौदह साल की बैरिस्टरी में लाखों रुपये कमाये। दक्षिण के बड़े–बड़े शहरों में बगले खरीदे। उनकी ख्याति उधर कन्याकुमारी से लेकर इधर बेरहमपुर तक फैल गयी।

उन दिनों से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, गोखले, फिरोजशाह मेहता आदि कई प्रमुख नेता आन्दोलन चला रहे थे। एक बार प्रकाशम किसी मुकद्दमे के सिलसिले में बम्बई पहुँचे। वहाँ उन्हें बालगंगाधर तिलक के दर्शन हुये। प्रकाशम पर तिलक का गहरा प्रभाव पड़ा। गांधीजी दक्षिण अफ्रिका से हिन्दुस्तान लौटकर सत्याग्रह का उपदेश देने लगे। सभी देशभक्त सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत करने लगे। प्रकाशम उन दस्तखत करने वालों में प्रथम थे। सन 1921 में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। इसके अनुसार सरकार से किसी भी प्रकार का सहयोग करना वर्जित था : तदनुसार दक्षिण में सर्व–प्रथम प्रकाशम ने अपनी वकालत छोड़ दी। और स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़े।

प्रकाशम ने स्वतंत्रता-प्राप्ति केलिए 26 अक्तूबर 1921 से 'स्वराज्य' नामक अंग्रेजी दैनिक पत्र का प्रकाशन मद्रास से आरंभ किया। उन दिनों में दक्षिण में कांग्रेस के विचारों को जनता तक पहुंचाने वाला यह एकमात्र प्रथम दैनिक पत्र था। कुछ समय के बाद तमिल और तेलुगु भाषाओं में भी 'स्वराज्य' दैनिक निकलने लगा। इन पत्रों ने जनसमूह को स्वातंत्र्य-आंदोलन की तरफ कदम बढ़ाने में प्रेरणा दी। एक समय पर गान्धीजी ने सलाह दी कि 'स्वराज्य' को बन्द करना अच्छा हैं। लेकिन प्रकाशम ने नहीं माना। 'स्वराज्य' चलाने केलिए उन्होंने वकालत में कमाए लाखों रुपये

खर्च किये। प्रकाशम खुद नुकसान उठाकर भी स्वराज्य प्राप्ति के लिए यह पत्र चलाते रहे।

आखिर अंग्रेज भारतीयों की स्वतन्त्रता की मांग को सर्वथा अनसुनी न कर सके। 1928 की फरवरी के अन्तिम सप्ताह में ब्रिटिश सरकार ने कई जातियों और धर्मों से भरा हुआ भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करने योग्य है या नहीं, यह परखने के लिये 'साइमन आयोग' को भेजा। भारत की जनता इस अपमान को सहन नहीं कर सकी। इसके विरुद्ध गांधीजी का आदेश सुनकर साइमन के सामने लाखों काले झण्डे प्रदर्शित हुये। लेकिन दक्षिण भारत में काले झण्डों का प्रदर्शन करना है या नहीं, यह एक समस्या थी गांधीजी के सामने। आखिर परिस्थितियों को प्रतिकूल समझकर उन्होंने दक्षिण में आन्दोलन चलाने का प्रस्ताव नहीं रखा। इससे प्रकाशम का खून खौल उठा जो दक्षिण के नेता थे। स्वतन्त्रता-समर में अपने प्रदेश की जनता का एक इञ्च भी पीछे हटना घोर अपमान की बात थी। प्रकाशम ने यह निश्चय कर लिया कि उत्तर से भी जोरदार आन्दोलन करके दक्षिण की जन–चेतना कांग्रेस के नेताओं को दिखा देनी चाही। इस सन्दर्भ में यह स्मरण करना जरूरी है कि श्रीमान राजगोपालाचारी ने भी प्रकाशम का साथ नहीं दिया।

प्रकाशम इस आंदोलन को चलाने मद्रास पहुंचे। जनता का अखड स्वागत उन्हें प्राप्त हुआ। प्रकाशम के सिंह-गर्जन सुनते ही जनता बाढ़-सी उमड़ पड़ी। 'साइमन 'गो बैक' नारे की गूंज लन्दन नगर तक पहुंची। जनता के इस अपूर्व कोलाहल को सरकार सह नहीं सकी। भीड़ को तितर-वितर करने में पुलिस असमर्थ हुई। फोर्ट जार्ज से भीड़ को चीरते हुये सेना दौड़ पड़ी। लाठियाँ भी इस्तेमाल की गयीं। 'टियर गैस' व्यर्थ हो गयी। जहाँ भी देखो, प्रकाशम ही प्रकाशम दिख रहे थे। शासक इस अपार जन-समूह को देखकर डर गया। गोलियाँ चलाने का सैनिकों को आदेश मिला। बन्दूकें गोलियाँ बरसाने लगी। घुड़-सवार सैनिक कतारों में खड़े हो गये। डरपोक भाग गये। लेकिन देशभक्त आगे ही बढ़ते गये। गोलियों से कई लोग घायल हो गये। एक अज्ञात देशभक्त गोली का शिकार हुआ। उसकी लाश हाईकोर्ट के पास रखी गयी। यह वार्ता दावानल की भांति शहर भर व्याप्त हो गई। प्रकाशम क्रुद्ध हो गये। आखिर मृतवीर को देखने

तक जनता को अनुमति नहीं मिली। प्रकाशम आगे बढ़े। उनके पीछे लाखों जनता मृतवीर के दर्शन के लिये टूट पड़ी। सैनिक बन्दूकें हाथ में लिये गोली चलाने को सन्नद्ध थे। एक कदम भी आगे बढ़ते तो गोलियाँ सीने को चीरती हुई निकल जातीं। लेकिन पीछे हटने से देशभक्ति का घोर अपमान होता। इस नाजुक समय पर प्रकाशम सिंह की भांति गरज उठे। कोट के बटन खोलकर बन्दूक के सामने अपना सीना तानकर आगे बढ़ते हुये बोले— "पहले मुझे मारो......। बाद में दूसरों को......।" अंग्रेजों के दिल धड़कने लगे। बन्दूकें अपने आप नीची हो गयीं। प्रकाशम जीत गये। अप्रयत्न ही लाखों आवाजें एकसाथ गूंज उठीं— "आन्ध्र केसरी की जय", तभी से प्रकाशम 'आन्ध्र केसरी' के नाम से विख्यात हुए।

सन 1937 में विधान सभा के चुनाव हुये। ब्रिटिश सरकार ने निर्वाचित प्रतिनिधियों को पहली बार मन्त्री-मण्डल बनाने की अनुमति दी। राजगोपालाचारी मद्रास राज्य के मुख्यमन्त्री बने और 'आन्ध्र केसरी' राजस्व मन्त्री। उन दिनों में साधारण किसान अकाल की लपेट में झुलस रहे थे। इसका मूल कारण धनिक लोग ही थे। किसान ऋणभार से दबे जा रहे थे। इस अवसर पर प्रकाशम ने ऋण-विमोचन कानून लागू कर किसानों का उद्धार किया।

अन्य प्रदेशों के साथ मद्रास प्रदेश में भी सन 1946 में चुनाव हुये। मद्रास तब एक अजीब राज्य था, जिसमें चार भाषाओं की जनता रहती थी। इस प्रदेश की जनता ने ज्यादातर कांग्रेस प्रतिनिधियों को चुना। अब समस्या यह रही कि किसे मुख्यमन्त्री पद के लिये चुना जाये। कांग्रेस विधान-सभा के सदस्य 'आन्ध्र केसरी' को चुनना चाहते थे। लेकिन गांधी जी ने श्रीमान राजगोपाचारी को मुख्यमन्त्री पद के लिये चुनने का आदेश दिया। इस बात पर 'आन्ध्र केसरी' नाराज हो गये। सवाल किया कि "क्या गांधीजी का आदेश मात्र प्रजातन्त्रवाद कहा जाता है? क्या विधान-सभा के प्रतिनिधियों को वे जिसे चाहें, उसे चुनने का अधिकार नहीं है?" विधान-सभा के सभी सदस्य मद्रास में इकट्ठे हुये। समझौता हुआ कि केवल उनके नेता आन्ध्र केसरी मुख्यमन्त्री बन सकते हैं।

प्रकाशम बुजुर्गों की इच्छा के विरुद्ध मुख्यमन्त्री बने। फिर भी

जनहित के कई कानून उन्होंने बनवाये और लागू किये। न्याय और कार्य-वाहक शाखाओं को पृथक किया। उत्पादन और वितरण सम्बन्धी सरकारी समितियों का गठन किया गया। हरेक फिरका के लिये डेवलपमेंट अफसरों की नियुक्ति हुई। इन्हीं के शासन काल में दक्षिण भारत में पहली बार हरिजनों को बेरोक मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार मिला।

दुर्भाग्यवश मन्त्री पदों के लिये प्रजाप्रतिनिधियों के बीच होड़ लगी। दस मासों के अन्दर ही विधान-सभा के सदस्यों ने प्रकाशम के विरुद्ध अविश्वास प्रकट किया। प्रकाशम ने मुख्यमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। प्रकाशम के गद्दी से उतरते ही मद्रास प्रदेश में कई परिवर्तन आये। दो और मुख्यमन्त्री आये और गये। तमिल और तेलुगु भाषा-भाषियों के बीच में झगड़े होने लगे।

तेलुगु भाषियों में अपना अलग राज्य स्थापित करने की इच्छा बढ़ने लगी। आखिर शहीद पोट्टि श्रीरामुलु के आत्म-त्याग एवं प्रकाशम के अविरल परिश्रम के फलस्वरूप सन 1953 नवम्बर पहली तारीख को आन्ध्र प्रदेश का अवतरण हुआ। और आन्ध्र केसरी आन्ध्र राज्य के प्रथम मुख्यमन्त्री बने। अब की बार नेहरुजी भी प्रकाशम की प्रजा-सेवा की प्रशंसा करने लगे। सन 1956 तेलुगु भाषियों के लिये अबिस्मरणीय वर्ष है। विशालान्ध्र यानी भाषाई प्रदेश जो सभी तेलुगु भाषी प्रांतों को इकट्ठा कर 'आन्ध्र प्रदेश' का अवतरण हुआ। तब तक प्रकाशस काफी वृद्ध हो चुके थे, शासन की बाग डोर सम्भालने की शक्ति नहीं रह गयी थी। इसलिये प्रकाशम के आशीर्वादों के फलस्वरूप नीलम संजीव रेड्डी मुख्य-मन्त्री बने।

यह स्पष्ट है कि 'आन्ध्र केसरी' टंगटूरि प्रकाशम के साथ 'आन्ध्र प्रदेश' का इतिहास जुड़ा हुआ है। आन्ध्र प्रदेश के जिन बुजुर्गों ने प्रकाशम को नजदीक से देखा और परखा, आज भी उनके आत्माभिमान, त्याग एवं निस्संकोच स्वभाव का गुणगान करते हुये गद्‌गद हो जाते हैं। वास्तव में प्रकाशम पूर्ण मानव थे। उनका जीवन कई रूपों में हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष हुआ है। वे सिर्फ़ एक लोकप्रिय नेता के रूप में ही नहीं, सफल अभिनेता, आत्माभिमानी लोकप्रसिद्ध वकील, ज्ञानसम्पन्न पत्रकार, निस्वार्थ देशभक्त तथा महापुरुष थे।

5

विश्वविख्यात दार्शनिक जिड्डु कृष्णमूर्ति

"भगवत-गीता को बाहर फेंक दो, बाइबिल को जला दो, और कुरान को फाड़ डालो।"—ये शब्द और किसी के नहीं हैं, 20वीं शती के विश्वविख्यात दार्शनिक जिड्डु कृष्णमूर्ति के हैं। उक्त उद्धरण उनके द्वारा आकाशवाणी दिल्ली केन्द्र से प्रसारित भाषण का अंश मात्र है। उसे सुनकर सभी धार्मिकों की आँखों से आग बरस पड़ी। आकाशवाणी केन्द्र धार्मिक उग्रवादियों के पत्रों से भर गया। देश की सभी दिशाओं से उस प्रवक्ता को इस देश से तुरन्त निष्कासित करने की माँग की गयी।

साधारणतः दार्शनिक यह बताते हुए सुनते हैं कि सम्पूर्ण विश्वास ही एकमात्र सत्यान्वेषण का सुगम मार्ग है। लेकिन कृष्णमूर्ति इस विचार से बिलकुल विरोध करते हैं। इसीलिए वे बराबर यह कहते रहे कि कितने भी उत्तम ग्रन्थ या श्रेष्ठ महापुरुष क्यों न हों दूसरों की जीवन-मुक्ति के मार्ग को सुगम नहीं बना पाता। हर चीज या विचारधारा को संशय की दृष्टि से ही परखना चाहिए। क्योंकि आधुनिक मानव अनेक तथाकथित महापुरुषों, विचार-धाराओं, व्यवस्थागत नीति-नियमों से निरन्तर वंचित किया जा रहा है और वह उन नियमों के नीचे दबता जा रहा है, अपनी निजी चेतना से दूर होता जा रहा है। इसीलिए कृष्णमूर्ति का कहना है कि तुम्हारे विश्वास को निरन्तर बनाए रखो। किसी पर भरोसा मत रखो, आखिर मेरे विचारों पर भी विश्वास मत करो। तुम स्वयं अपने दिल और दिमाग के बल पर सत्य के निकट पहुँचने का प्रयत्न करो।

आधुनिक युग के भारतीय दार्शनिकों में स्वामी विवेकानंद के बाद जिड्डु कृष्णमूर्ति को सर्वोपरि माना जाता है। 20 वीं शती के दार्शनिकों में ज्याँपाल सात्र और जिड्डु कृष्णमूर्ति विश्वविख्यात ही नहीं दोनों की विचार

धारा में कुछ साम्य भी पाये जाते हैं। मानव समाज के विकास-क्रम में सामाजिक परिस्थितियों और उससे उत्पन्न अच्छी और बुरी आर्थिक गतिविधियों पर मार्क्सवाद ने दृष्टि केंद्रित की थी। मार्क्सवाद की पृष्ठभूमि पर पनप उठी व्यवस्था में फँसे यांत्रिक मानव को पहचान कर उसे नित्य-नूतन एवं चेतनशील बनाने की दिशा में ज्यांपाल सात्र और जिड्डु कृष्णमूर्ति ने विशेप प्रयत्न किया है।

कृष्णमूर्ति के विचार साधारण दार्शनिक परम्परा से बिलकुल भिन्न हैं। उनके अनुसार किसी भी सत्ता, चाहे वह वाम या दक्षिण पन्थी और किसी प्रकार की व्यवस्था एवं विचारधारा क्यों न हो वे सब मानव–मूल्यों को हनन करने वाली हैं। लेकिन मानव की मानवता का मूल्य इन सबसे बढ़कर है। जब मानव इस चेतना को सुरक्षित रख पाता है तभी सत्य के निकट पहुँच सकता है। इसी प्रकार एक दूसरे सन्दर्भ में कहा था कि व्यवस्था से बढ़कर व्यष्टि को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। तभी विश्व में एक क्रम और शान्ति की स्थापना सम्भव हो सकती है।

'शिक्षा और परमार्थ' शीर्षक ग्रन्थ में उन्होंने कहा था कि निजी चिन्तन, हृदय के स्पन्दन को अनुभव नहीं कर पाने से हमारा जीवन अधूरा रह जाता है। जीवन–मूल्यों पर व्यापक दृष्टि नहीं फैलाने से शिक्षा की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। शिक्षा की दिशा निर्देश करते हुये आगे उन्होंने कहा – चिरन्तन मानव-मूल्यों को पहचानने में शिक्षा हमारी सहायता करनी चाहिये। तब हम केवल सिद्धान्तों को पकड़कर लटकते नहीं रहेंगे। राष्ट्रीय, सामाजिक, एवं धार्मिक अड़चनों को स्थान दिये बिना उन्हें तोड़ने के लिये शिक्षा सहायक होनी चाहिए। क्योंकि राष्ट्रीय एवं सामाजिक अवरोधों के कारण मानव और मानव के बीच शत्रुता उत्पन्न होती है। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज की शिक्षा हमारी स्वतन्त्रता को मिटाकर पराधीन बना रही है। मानव केवल यांत्रिक बनते जा रहे हैं...... सृजनशीलता हम से दूर होती जा रही है।

तकनीकी शिक्षा के सन्दर्भ में भी उनके विचार सुस्पष्ट हैं— तकनीकी विज्ञान की आवश्यकता जितनी भी हो, उससे हमारे अन्दरूनी और आत्मगत समस्याओं और संघर्षों का समाधान प्राप्त नहीं हो सकता।

सम्पूर्ण मानव विकास को ग्रहण किये बिना तकनीकी विज्ञान को अपना लिया गया है, जिससे वही तक़नीकी विज्ञान आज हमारी विनाशकारी बन गया है। आणविक विच्छिन्न से परिचय प्राप्त मानव हृदय में यदि प्रेम और दया का विलुप्त हो जाय तो वह अवश्य राक्षस बन बैठता हैं।

कृष्णमूर्ति के अनुभव के अनुसार विश्व में जो सामाजिक-भीभत्स हुए हैं और हो रहे हैं उन सबका कारण 'मैं' की संज्ञा मात्र से है। मानव मैं पर विशेष दृष्टि केन्द्रित कर सीमाओं का सृजन करता जाता है। यही सीमायें अपने को बाकी दुनिया के बीच बिना बनाई दीवारों की भांति खड़े होकर वैरुध्यों की स्थापना कर मानव में निहित मानवता को घायल कर रही हैं। इसीलिये मानव अपनी ही सीमाओं में बन्दी होकर छटपटाता है। इस प्रकार हम हम ही रह गये हैं। दूसरों के निकट नहीं पहुंच पा रहे हैं। हम जो भी सान्निध्य प्राप्त करते हैं, वह सब कृत्रिम है और तर्कबद्ध है, वातों पर आधारित हैं। लेकिन वह अमलिन नहीं है, जो सहज नहीं है। एक दूसरे की आत्मा की पुकार को नहीं सुन पा रहे हैं।

कृष्णमूर्ति एक मासूम बच्चे की तरह भावुक एवं जिज्ञासु भी है। प्रकृति से उन्हें विशेष लगाव भी रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कृष्णमूर्ति ने कालिफोर्निया में अपना निवास बसा लिया, वहीं गुलाब की पौधों और गायों को पालते रहे। जब वे सन 1948 में भारत आये तब भारत का बंटवारा और गांधीजी की हत्या से बिलकुल विचलित हो गये और तभी से उन्हें मानव के भविष्य पर अनेक प्रश्न उठने लगे।

कृष्णमूर्ति ने अपने लम्बे जीवन काल में अनेक देशों का पर्यटन किया था। जहाँ कहीं भी हो, गोष्ठियाँ, चर्चायें, प्रश्नोत्तर आदि अपनी दिन—चर्या के अभिन्न अंग बन गये। भाषण, श्रोताओं के प्रश्नोत्तर आदि सात सौ से अधिक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई हैं।

अब कृष्णमूर्ति के आरम्भिक जीवन पर प्रकाश डालना अनिवार्य है, जिसके बिना यह लेख अधूरा ही नहीं, उनके जीवन के मौलिक-पक्ष से पाठक वंचित रह जाते हैं।

जिड्डु कृष्णमूर्ति का जन्म 11 मई 1895 को आन्ध्र प्रदेश के मदनपल्ली नामक एक छोटे से पहाड़ी शहर में हुआ था। कृष्णमूर्ति सनातन

तेलुगु ब्राह्मण परिवार के नारायणय्या और संजीवम्मा के अष्टम सन्तान था। हिन्दू धर्म के विश्वास के अनुसार अपनी आठवीं सन्तान लड़का होने के कारण उसका नाम कृष्णमूर्ति रखा गया था, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण भी अपने माँ-बाप की आठवीं सन्तान थे। कृष्णमूर्ति के पिता नारायणय्या ने मद्रास विश्वविद्यालय से स्नातक उपाधि प्राप्त कर राजस्व विभाग में तहसीलदार के रूप में नियुक्त होकर जिला मजिस्ट्रेट ओहदे तक पदोन्नति प्राप्त की थी।

जब कृष्णमूर्ति 11 वर्ष का था उसकी माँ संजीवम्मा की मृत्यु हुई। इससे बालक कृष्णमूर्ति के मन पर घातक सिद्ध हुआ। अपनी मातृमूर्ति की मृत्यु के उपरान्त की अपनी मन: स्थिति को उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया था। सन 1905 में मेरी माता की मृत्यु से मैं और मेरे भाइयों ने प्रेम और दया की मूर्ति और हमारे पूरे परिवार की संरक्षिता से हम सब वंचित रह गये। तब मेरा स्वास्थ्य भी बहुत नाजुक स्थिति में रहता था। स्कूल में मुझे अध्यापकों से असहनीय पीड़ा का अनुभव करना पड़ता था। जब भी स्कूल से छूटकर खेल-कूद करने का मौका मिलता था मैं बहुत मजे के साथ खेला करता था। मेरी मां की मृत्य के बाद मुझे यह कहना पड़ेगा कि तब मेरी मां के बारंबार दर्शन हो जाते थे। मुझे अब भी याद है कि मेरी मां का आकार सीढ़ियां चढ़ती दिखायी पड़ी तो मैं उसके पीछे पड़कर उनकी साड़ी पकड़नेवाला ही था कि वह तुरन्त सीढ़ियों की आखिरी छोर तक पहुंचकर अदृश्य हो गयी। जब भी मैं स्कूल चला जाता था तब मुझे यह अहसास होता था कि मेरी मां मेरे पीछे चली आ रही है और मेरी मां की चूडियों की आहट भी सुनाई पड़ती थी। स्कूल से लौटने के बाद अक्सर कृष्णमूर्ति शाम के समय में घर से दो मील की दूर पर एक सूने पहाड़ पर स्थित मन्दिर चला जाता था।

जब नारायणय्या सन 1907 में जिला माजिस्ट्रैट पद से अवकाश प्राप्त कर चुके थे, अपने चार बच्चों सहित दिव्य-ज्ञान समाज के अन्तर्राष्ट्रीय संस्था मद्रास में स्थित अड़यार पहुंचकर अपनी संपूर्ण सेवाएं उस संस्था को प्रदान करने की प्रार्थना की थी। तीन बार अनुनय-विनय के साथ आवेदन पत्र भेजने के बाद उस संस्था के अध्यक्षा श्रीमती अनी बीसेंट ने सन 1909 में श्री नारायणय्या की सेवाओं को स्वीकार करते हुए अपने बच्चों के साथ दिव्य-ज्ञान समाज के अहाते में रहने की स्वीकृति दे दी।

इस प्रकार नारायणय्या ने 23 जनवरी 1909 को अपने बच्चों के साथ मद्रास में स्थित अड़यार पहुंच गये। दिव्य-ज्ञान समाज के लैड़ बीटर एक ऐसे व्यक्ति थे जिनकी योग-दृष्टि मान्य मानी जाती थी। बालक कृष्णमूर्ति को देखकर उसने यह प्रकट किया कि कृष्णमूर्ति अद्वितीय प्रतिभा-संपन्न महापुरुष बनेगा। श्रीमती अनी भीसेंट भी इस बात से सहमत होकर वालक कृष्णमूर्ति और उसके छोटा भाई नित्यानंद को दत्तक-ग्रहण कर लिया। कृष्णमूर्ति को दत्तक-ग्रहण कर लेने के पीछे एक मुख्य कारण यह रहा था कि कुछ आध्यात्मिक-पुरुषों से श्रीमती बीसेंट को निकट सम्बन्ध रहा था और उनके अनुसार भगवान बुद्ध और ईसा मसीहा की तरह पूरब में एक और दिव्य-पुरुष जन्म ले चुका है। उन महत्वपूर्ण लक्षण बीज रुप में बालक कृष्णमूर्ति के मुख-मण्डल में प्रतिबिंबित हुए।

होनेवाले विश्व-प्रवक्ता केलिए सन 1911 में अनी बीसेंट ने 'पूरब का सितारा' (ईस्टर्न स्टार) नामक संस्था की स्थापना की थी। कृष्णमूर्ति को इस संस्था के अध्यक्ष बना दिया गया था। कृष्णमूर्ति और उनका भाई नित्यानंद की शिक्षा-दीक्षा और विदेशों में पर्यटन करने का अयोजन भी अनी बीसेंट ने दिव्य-ज्ञान समाज की और से कराया था।

कालांतर में कृष्णमूर्ति को एक अनौखे दार्शनिक बनने में उनके जीवन की अनेक घटनाओं ने महत्वपूर्ण काम किया था। कृष्णमूर्ति ने सन 1929 में अपने लिये स्थापित सभी संस्थाओं को रद् कर दिया। उनके विचार के अनुसार किसी भी संस्था सत्यान्वेषण के लिये रोड़ा बन सकती है। इन संस्थाओं के रद् करने से उनके भक्त-जन चिंतित हुये। सत्यन्वेषण के लिये अपने भक्त-जनों से बिछुडने का निर्णय कर लिया था। इस संदर्भ में कृष्णमूर्ति ने जो बातें कहीं वह ध्यान देने योग्य हैं—" सत्य एक अगम्य प्रदेश है। किसी एक मार्ग, धर्म, या शाखा के सहारे उस मार्ग को हम पहुंच नहीं सकते। यह मेरा विश्वास है। इसे मैं निस्संकोच स्वीकार कर लेता हूँ...... मैं एक सत्यान्वेषी हूँ इसलिये मेरे अनुचर मुझे समझने की कोशिश करें। मैं अपने अनुचरों को यही उपदेश देता हूँ कि वे धार्मिक-भय, आध्यत्मिक-भय, मोक्षप्राप्ति का भय, प्रेम-भय जीवन-मरण के भय से विमुक्ति प्राप्त करें।

उन्होंने अपने इर्द-गिर्द बुने भ्रम-जाल को बड़े ही धैर्य के साथ उतार फ़ेंक दिया। इस प्रयत्न में अनेक भक्त-जनों के साथ, पद एवं उपाधियों से प्राप्त होनेवाली गौरव-मर्यादाओं और अपार संपत्ति को खो बैठा। अपने सत्या-वेषण मार्ग को स्वस्थ बनाये रखने के लिये अनेक तकलीफों को झेलने केलिये सिद्ध हुये थे। केवल उन ही के लिये बनाई गई संस्थायें बन्द हो गयी। जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, विश्व भर भ्रमण कर मानव-मूल्यों को बनाये रखने की चेतवानी देते रहे। इस प्रकार अपने दार्शनिक विचारों को व्याप्त करते हुये एक सत्यान्वेषी के रूप में अपनी अनंत-यात्रा का गम्य स्थान 17 फरवरी 1987 को प्राप्त कर लिया था

6

तेलुगु फिल्में

श्रव्य एवं दृश्य माध्यमों में फिल्मों का स्थान महत्वपूर्ण है। खासकर जहाँ पर 70 प्रतिशत लोग अनपढ़ हैं, सामाजिक विकास को प्राप्त करने में फिल्मों का योगदान अमूल्य है। फिल्में केवल मनोरंजन ही नहीं करतीं, मानव जीवन के सभी पहलुओं पर शिक्षित, सूचित एवं प्रेरित करने में भी सक्षम हैं। तेलुगु भाषियों में जो सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना पाई जाती है, उसमें तेलुगु फिल्मों का भी अंशदान मौजूद है। आन्ध्र प्रदेश राज्य के गठन के पूर्व अधिकांश तेलुगु भाषी प्रांत अविभाज्य मद्रास राज्य के अन्तर्गत रहा था। इसलिये अनेक तेलुगु भाषी निर्माता, निर्देशक, कलाकार और अन्य तकनीशियन मद्रास नगर में जा बसे थे और उनके द्वारा तेलुगु फिल्मों के साथ फिल्म-स्टुडियों का निर्माण भी हुआ। इस तरह मद्रास नगर एक बड़े फिल्म उद्योग केन्द्र के रूप में उभरने में तेलुगु भाषियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

दक्षिण में सर्वप्रथम तेलुगु भाषी श्री रघुपति वेंकय्या ने चल-चित्रों के निर्माण में विशेष योगदान दिया था। इन्होंने सन 1922 में 'भीष्म प्रतिज्ञा' नामक पहली तेलुगु मूक–फिल्म तैयार की थी। वेंकय्या ने अपने पुत्र आर. प्रकाश को फिल्म उद्योग के आधुनिक तकनीकों के अध्ययनार्थ अमेरिका और इंग्लैण्ड भेजा था। और वह विदेशों से लौटकर मद्रास में 'स्टार ऑफ ईस्ट इण्डिया' कम्पनी की स्थापना की।

पहली सवाक तेलुगु फिल्म एच. एम. रेड्डी के निर्देशन में 'भक्त प्रह्लाद' का निर्माण सन 1931 में हुआ था। शुरू में हिन्दी फिल्मों की भांति तेलुगु में भी पौराणिक फिल्मों का बोलबाला रहा। क्योंकि उस समय जनता में देवी देवताओं के प्रति अधिक श्रद्धा एवं विश्वास था। उस जमाने के फिल्मकार सीमित तकनीकी सुविधाओं के सहारे अत्यन्त निष्ठा

एवं सूझबूझ के साथ फिल्में बनाते थे जिनमें चिरन्तन मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय जागरण, समाज सुधार, नैतिक मूल्यों का उद्धार आदि प्रबोधात्मक तत्व अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते थे। इसी प्रकार लोक-नृत्य व लोक-गीतों का बोलबाला था। इन सबसे बढ़कर पौराणिक फिल्मों में भी उस जमाने की जन समस्याओं को प्रतिबिम्बित किया जाता था। स्वतन्त्रता आन्दोलन को बढ़ावा देने के लिये पौराणिक फिल्मों में अंग्रेजों को रावण, हिरणयकशिप, भस्मासुर आदि राक्षसों के प्रतीक के रूप में चित्रित किया जाता था। संवादों तथा सन्दर्भों को सामयिकता के रंग में रंग कर जनता का ध्यान समस्याओं की ओर आकर्षित कर उसका मार्ग-दर्शन भी किया जाता था।

प्रथम चरण की तेलुगु फिल्मों में 'भक्त प्रहलाद' के बाद सन 1933 में—सावित्री, पृथ्वीपुत्र, 1934 में श्रीकृष्ण लीललु, लव कुश, 1935 में कृष्ण तुलाभारम, कुचेल, सत्य हरिश्चन्द्र, सीताराम जननम, 1936 में द्रौपदी वस्त्रापहरणम. वीराभिमन्यु, 1937 में विप्रनारायण, 1940 में मैरावण, 1945 में वाल्मीकि आदि उल्लेखनीय पौराणिक सवाक फिल्में निर्मित हुई।

राष्ट्रीय पुनरुत्थान काल के अनुरूप उस समय अनेक ऐतिहासिक पुरुषों, महान कवि एवं सन्तों की गाथाओं पर आधारित फिल्में भी अत्यन्त कलात्मक ढंग से बनी थीं। इस कोटि की फिल्मों में—सन 1937 में तुकाराम, 1942 में बाल नागम्मा, 1946 में दक्षिण के सुविख्यात कर्नाटक संगीत-सम्राट त्यागय्या, 1947 में सन्तकवि वेमन योगी आदि को बड़े गौरव के साथ उल्लेख की जा सकती है।

प्रथम चरण की सामाजिक-फिल्मों में समाज-कल्याण तथा जन-जागरण को ही अधिक स्थान दिया जाता था। समाज-सुधार और गांधीवाद का प्रचार भी उनमें स्पष्ट परिलक्षित होता था। गूडवल्लि रामब्रह्मम के निर्देशन में 'माल पिल्ला' (हरिजन युवती) सन 1939 में बनी थी जिसमें ऐक ब्राह्मण युवक के साथ एक हरिजन-युवती की शादी कराई गई थी। इस फिल्म के प्रदर्शन से ब्राह्मण समाज में बड़ा तहलका मचा था। इसी प्रकार विधवा-विवाह के अनुकूल वै. वी. राव के निर्देशन में सन 1939 में 'मल्ली पेल्ली' (दूसरी शादी) बनी थी। इसी वर्ष बी. एन. रेड्डी द्वारा 'वंदेमातरम' निर्मित हुई जो राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध है। इस फिल्म

में राष्ट्रीय-जागरण के साथ बेरोजगारी, दहेज-प्रथा आदि सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया था। इसी प्रकार इस समय की 'इल्लालु' (गृहिणी), कालचक्रम, गृह-लक्ष्मी, स्वर्ग-सीमा' आदि उल्लेखनीय सामाजिक फिल्में हैं।

द्वितीय चरण में लोक-गाथाओं पर आधारित राजा-रानियों की फिल्मों की संख्या अधिक रही। स्वतंत्रता मिल चुकी थी और अब जनता के सामने उस तरह का कोई निश्चित आदर्श नहीं रह गया था। पौराणिक–फिल्मों से रुचि घटने लगी। जनता मनोरन्जन और अद्भुत-कारनामों के प्रति आकृष्ट होने लगी। नायक-नायिकाओं का श्रृंगार, तलवारों की झनझनाहट, घुड़सवारों की दौड़-धूप और नाच-गाने आदि के प्रति लोग मोहित होने लगे। इस स्थिति तक पहुंचते-2 छायांकन, ध्वनि आदि तकनीकी उपकरणों का काफी हद तक आधुनिकीकरण भी हुआ। फलत: इन फिल्मों में ऐन्द्रिजाल तत्वों के समावेश के साथ–साथ, सेटों के निर्माण में कलात्मकता की भी वृद्धि हुई। फिल्मों में संगीत एवं नृत्य प्रस्तुत करनेवाले कलाकारों की एक जमात भी उभर आई। इस तरह फिल्म निर्माण की व्यवस्था में आधुनिकीकरण तथा कलात्मकता का समावेश हुआ। लोगों में भी फिल्म देखने की इच्छा बढ़ने लगी। 'बालराजु (1948), 'कीलु गुर्रम (उड़न घोड़ा—1949), पाताल भैरवी, मल्लीश्वरी (1951) आदि अनेक कल्पित गाथाओं पर आधारित फिल्में बाक्स आफिस पर अत्यंत सफल होने लगीं और आज भी उन फिल्मों को देखनेवाले दर्शकों की कमी नहीं है।

यह भुलाया नहीं जा सकता कि सामाजिक फिल्मों के उत्थान के बीज भी इसी अवधि में पड़े। इस समय बंगाली उपन्यासों को लेकर अनेक फिल्में बनीं। जैसे कि 'अर्धांगी' (1955), 'बाटसारि' (राहगीर—1961), देवदास (1953), निवृत्ति' आदि अत्यंत उल्लेखनीय सफल फिल्में हैं। साथ ही साथ समस्यामूलक और उपदेशात्मक फिल्में भी प्रकाश में आईं। मजदूरों की समस्याओं पर 'तोडि दोंगलु' (साथी चोर — 1954), सेठ–साहूकारों के शोषण पर 'षावुकारु' (1950), बाल-विवाहों पर व्यंग्य, विधवा-समस्याओं का चित्रण, वेश्याओं तथा वेश्यागामियों के प्रति कड़ा व्यंग्य 'कन्याशुल्कम' (1955) चित्र मे प्रस्तुत किया गया है। 'कन्याशुल्कम' प्रथम आधुनिक तेलुगु नाटक है, जिसमें सामयिक रुढ़िवादी सामाजिक-जीवन

को काफी प्रभावित किया। स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक क्षेत्र में जो भ्रष्टाचार फैला, उसकी तरफ इशारा करते हुए बी. एन. रेड्डी 'पेद्द मनुषुलु' (बडे आदमी– ,, 50) को चित्रित कर जनता में राजनीतिक चेतना लाये। उत्तम ऐतिहासिक फिल्मों का निर्माण भी इसी समय में हुआ था। 'तेनालि-रामकृष्ण' (,, 56), अनार्कली (,, 55), कालिदास (, ,60) भक्त जयदेव, पल्नाटि युद्धमु (,, 47) आदि अत्यंत लोकप्रिय ऐतिहासिक फिल्में हैं।

उल्लिखित दोनों चरणों में निर्माता एवं निर्देशकों ने फिल्म-निर्माण को एक तपस्या के रूप में मानकर अत्यंत निष्ठा एवं लगन के साथ फिल्में बनाई। जिनमें एच.एम. रेड्डी. चक्रपाणी, बी. एन. रेड्डी, सदाशिव ब्रह्मम, के. वी. रेड्डी, वेदांतम राघवय्या, समुद्राला आदि को गौरव के साथ उल्लेख किया जा सकता है।

तृतीय चरण में फिल्म–क्षेत्र के परिवेश और आयाम भी बदल गये। आधुनिक विचार धाराओं का प्रभाव काफी बढ़ गया और अब फिल्म देखना आम आदमी के लिये जीवन का अभिन्न अंग बन गया। यही नहीं फिल्मों के प्रति आम आदमी का दृष्टिकोण भी बदल गया और वह कोरे मनोरंजन और कपोल–कल्पित गाथाओं मे संतृप्त नहीं हो सकता बल्कि फिल्मों में वह जीवन की सच्चाइयों को ढूंढने लगा है। आज निर्माता–निर्देशकों के लिये जन–मानस को पकड़ना उतना आसान नहीं है, जितना कि पहले था। दूसरी बात यह है कि अब दर्शक भी आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से वर्गों में बंट गये हैं। उनकी रूचियों में भी काफी अन्तर पाया जाता है। इसलिये सभी वर्गों के दर्शकों को एक साथ बिठाकर सन्तुष्ट करना कोई मामूली बात नहीं रही है।

इस स्थिति में लोकप्रिय मानेजानेवाले मुट्ठी भर अभिनेताओं ने निर्माताओं से अधिक पैसे की मांग करने लगे और दर्शक भी पुराने चेहरों से ऊबे हुए थे। सन '62 में नए अभिनेताओं की खोज कर आदुर्ति सुब्बाराव ने 'तेने मनसुलु' (मधुमन) फिलम का निर्माण किया। इस प्रकार धीरे–धीरे नए अभिनेताओं का प्रवेश बढ़ने लगा। करीब '63 में तेलुगु फिलमों में जासूसी एवं जेम्सबाण्ड टाइप फ़िल्मों की शुरूआत 'गूढ़चारी 116' से हुई। तभी से हर साल कम से कम आधा दर्जन इस तरह की फिल्में बनने लगीं।

करीब–करीब इसी दौरान तेलुगु फिल्मों में अपराध, सेक्स, हिंसात्मक तत्व आदि की भी घुसपैठ हुई। करीब '63–64 तक पहुँचते पहुँचते लोक-गाथाओं पर आधारित सभी कपोल–कल्पित फिल्में बॉक्स-आफिस पर बुरी तरह पिट गईं। इसी तरह पौराणिक-फिल्मों की लोकप्रियता भी कम होने लगी।

प्रथमतः 1964 में कोडूरि कौशल्यादेवी का 'चक्रभ्रमणम' नामक तेलुगु उपन्यास के आधार पर डॉ० चक्रवर्ती नामक फिल्म का निर्माण हुआ। तब तक बंगाली, मराठी या अन्य भारतीय भाषा साहित्यों या फिल्मों के आधार पर तेलुगु फिल्में बनती थीं। यह प्रथम प्रयत्न अत्यन्त सफल रहा। लेखिका के मतानुसार कथावस्तु की पटुता के साथ–साथ श्रेष्ठ कलाकारों तथा उत्तम तकनीकी के कारण डॉ० चक्रवर्ती फिल्म अत्यन्त कलात्मक एवं लोकप्रिय साबित हुई है। इस दिशा में अधिकतर तेलुगु लेखिकाओं की लोकप्रिय रचनाओं पर सत्तर दशक में फिल्में बनी थीं। जिनमें कोडूरि कौशल्यादेवी, यद्दनपूडि सुलोचनारार्णि, सी. आनन्दरामम, मादिरेड्डी सुलोचना, डी. कामेश्वरी आदि उल्लेखनीय लेखिकायें हैं।

फार्मूला फिल्मों से लोग तंग आ चुके थे। इस माहौल को एक नया मोड़ देने 1968 में तेलुगु के उच्चकोटि के अभिनेता ए. नागेश्वरराव तथा निर्माता आदुर्ति सुब्बाराव दोनों ने मिलकर तेलुगु में कम बजट की प्रयो–गात्मक फिल्मों का निर्माण किया। इस कड़ी में सन 1968 में 'सुडिगुंडालु' (बवंडर) बनी, जिसमें बच्चों के अन्दर अपराध भावना की जड़ें कैसे पनप उठती हैं और इस दुष्परिणाम के लिये परिवार और समाज कहाँ तक जिम्मेदार है आदि बातों पर सुन्दर चित्रण किया गया है। इन दोनों अभिनेता एवं निर्माता ने 1970 में 'मरो प्रपञ्चम' (दूसरी दुनिया) का निर्माण किया। इसमें कुछ युवा-पीढ़ी समाज में फैले भ्रष्टाचार, कुप्रथाओं से विक्षुब्ध होकर नये समाज के निर्माण हेतु दूषित समाज से दूर दूसरी दुनिया को बसाना चाहते थे। लेकिन सरकार दूसरी दुनिया को अवैध साबित कर उन्हें बन्दी बनाती है। ये दोनों फिल्में स्वस्थ दृष्टिकोण को अपनाती हैं। पर इन फिल्मों का प्रभाव तेलुगु फिल्म जगत पर न के बराबर रहा।

अस्सी दशक में हर साल तेलुगु में करीब 70-80 फिल्में निर्मित

होती थीं। संख्या की दृष्टि से देखें तो हिन्दी के बाद तेलुगु फिल्मों की संख्या अधिक रही थी। 1974 में सत्तर फिल्में प्रदर्शित हुई, जिनमें से ग्यारह फिल्में अन्य भारतीय फिल्मों से डब की गई थीं। ध्यान देने की बात यह है कि अधिकांश डब की गई फिल्में जासूसी तथा अपराध सम्बन्धी हैं और इक्कीस फिल्में अन्य भारतीय भाषाओं से जो बाक्स आफिस पर सफल हो चुकी थीं पुन: फिलमाई गई हैं। बाकी फिल्मों में छे लोकप्रिय तेलुगु उपन्यासों के आधार पर बनी हैं। अधिकांश पारिवारिक समस्याओं तथा स्त्री-समस्याओं को लेकर फिल्में बनीं।

यथार्थवादी फिल्मों के खिलाफ व्यावसायिक निर्माता तथा निर्देशक हमेशा यही कहते आ रहे हैं कि ऐसी फिल्मों को तेलुगु दर्शक पसन्द नहीं कर सकते। लेकिन अस्सी दशक में दर्शकों ने इस बात को गलत साबित कर दिया है। '74 में कमबजट वाली, नये अभिनेताओं के सहारे बनाई गई फिल्में सफल भी हुई हैं। इन बदलती हुई परिस्थितियों के फलस्वरूप यहाँ के अनेक युवा निर्माता तथा निर्देशक कम बजट वाली फिल्मों का निर्माण किया था। मसलन '74 में बनी दो–चार तेलुगु फिल्मों को लिया जा सकता है।

फिल्म निर्देशक के० विश्वनाथ द्वारा निर्मित 'ओ सीत कथा' (कहानी एक सीता की) कई दृष्टियों से स्तरीय मानी जा सकती है। विश्वनाथ इस फिल्म के पूर्व आधा दर्जन फिल्मों का सफल निर्देशन कर चुके हैं। 'कहानी एक सीता की' फिल्म में उनका स्वस्थ दृष्टिकोण तथा कलात्मक अभिव्यक्ति निखर उठे हैं। इनकी फिल्मों की खूबियाँ हैं — साज-सज्जा में सजीवता तथा सादगीपन, गतिमान पात्र और संवेदनशील अभि–व्यक्ति। इन सबके अलावा फिल्मांकन एक ऐसी जगह पर और ऐसे परिवेश में करते हैं कि जहाँ वे पात्र अजनबी न लगकर सहज-जीवनधारा से जुड़ जाते हैं। इसी कारण दर्शक पात्रों के साथ जल्दी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं।

इसी वर्ष 'अल्लूरि सीताराम राजु' नामक एक अच्छी ऐतिहासिक फिल्म का निर्माण भी हुआ है। तेलुगु भाषियों में अल्लूरि सीताराम राजु एक शहीद के रूप में सुविख्यात हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये उन्होंने

हजारों आदिवासियों को सैनिक-शिक्षा देकर सन '1921-24 के बीच अंग्रेजों से संघर्ष किया था। उनकी अमर गाथा पूरे आन्ध्र प्रदेश की जनता की जुबान पर अंकित है। इस अमर सग्राम की ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर अभिनेता कृष्ण ने सीताराम राजु की मृत्यु के पच्चासवें वर्ष में सीधे उन ऐतिहासिक जंगलों में जाकर स्वाभाविक ढंग से चित्रित कर दर्शकों को रोमांचित कर दिया है। खुशी की बात है कि इस फिल्म की जन जागरण की भावना की दृष्टि में रखकर ताशकन्द फिल्मोत्सव में इसे 'डिप्लोमा अवार्ड' प्राप्त हुआ है।

तेलुगु फिल्में आरम्भ से ही मद्रास नगर में बनती आ रही हैं। वहीं पर फिल्म-निर्माण की सभी सुविधायें उपलब्ध हैं। पर तेलुगु फिल्मों के ऊपर तमिल-फिल्मों का कुछ ऐसा असर पड़ रहा था कि वे तेलुगु जन-जीवन से कटकर अलग चल रही थी। इस कृत्रिम माहौल से हटाकर प्रादेशिक परिवेश तथा सांस्कृतिक विशेषताओं के उभारने के उद्देश्य से आंध्र प्रदेश सरकार आंध्र प्रदेश में बनाई जानेवाली फिल्मों को सन 1974 तक पचास हजार रुपए की सब्सिडी देती आ रही थी। लेकिन सन 1975 से उस रकम को एक लाख रुपए कर दिया गया है।

दूर दर्शन, रेडियो, वीडियो आदि दृश्य एवं श्रव्य माध्यमों के प्रचलन के बावजूद भारत देश में फिल्मों का महत्व कम नहीं हुआ है। लेकिन चिंता की बात यह है कि अधिककांश फिल्में निर्माण की तेजी, वथावस्तु की कमी, फूहड़ डान्स, कर्ण कठोर सन्गीत, बढ़ती हुइ हिंसा, अपराध, बलात्कार आदि दृश्य सामाजीक संस्कारों पर कुठाराघात कर रही हैं।

7

तेलुगु बाल-साहित्य

किसी भी भाषा के बाल-साहित्य का विकास उस भाषा के बोलने वालों की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ साक्षरों की संख्या तथा वहाँ के बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था पर निर्भर करता है। सब जानते हैं कि बाल-साहित्य एक ऐसी विधा है, जिसे केवल बच्चों के लिये उनकी आयु को दृष्टि में रखकर लिखा जाता है। बाल-पाठकों को कुछ विद्वानों ने तीन और कुछ ने चार भागों में विभाजित किया है। साधारणतः करीब तीन वर्ष से लेकर अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु वाले पाठकों को बाल-पाठक समझा जाता है। आधुनिक शिक्षाविदों का कहना है कि बाल-साहित्यकारों के लिये बाल-मनोविज्ञान का परिचय अत्यन्त आवश्यक है। तभी बच्चों को अच्छे नागरिक बनाने में बाल साहित्य सफल सिद्ध हो सकता है। भाषा-शैली, विषय-चयन, वस्तु-विश्लेषण, बच्चों की ग्रहण शीलता, उनकी उम्र और बच्चों पर रचना का प्रभाव—इन सारी बातों पर बाल-रचनाकार को हमेशा ध्यान रखने की आवश्यकता होती है।

बाल साहित्य भी समय सापेक्ष है। समकालीन परिस्थितियाँ, आचार विचारों का प्रभाव साहित्य पर पड़े बिना नहीं रहता। इसलिये आरम्भिक बाल साहित्य और आज के बाल साहित्य में सभी दृष्टियों से काफी अन्तर दिखाई देता है। यह स्वाभाविक ही है।

तेलुगु में बाल साहित्य का आरम्भ उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से होता है। उस समय के विद्वान एवं साहित्यकारों ने बालक बालिकाओं एवं स्त्रियों के लिये आवश्यक रचनायें प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार साहित्य का आरम्भ पद्य या छन्द के रूप में प्रकट होता है, उसी प्रकार तेलुगु बाल साहित्य भी पहले छन्दोबद्ध कविता के रूप में, पर सरल एवं बाल ग्राह्य शब्दों में अवतरित हुआ है।

कन्दुकूरि वीरेशलिंगम पन्तुलु अपने समय के महान समाज सुधारक ही नहीं, तेलुगु भाषा तथा तेलुगु साहित्य की सभी विधाओं को आधुनिक युग के अनुरूप ढालने में भी सफल हुये हैं। तेलुगु बाल साहित्य के बीज पहले पहल इन्हीं के द्वारा डाले गये थे। आपके द्वारा बच्चों के लिये लिखित 'नीति दीपिका' सन 1872 में प्रकाशित हुई थी। छन्दोबद्ध पद्यों में लिखित इस पुस्तक का सत्रहवाँ मुद्रण सन 1913 में हुआ था। इस पुस्तक की लोकप्रियता एवं उपयोगिता का इससे अधिक और क्या प्रमाण मिल सकता है? ईसफ की कहानियों का 'नीति कथा मंजरी' नाम से पहला तेलुगु रूपांतरण वीरेशलिंगम द्वारा ही हुआ था। इन कहानियों के लिये आपने आकर्षक चित्र भी खिचवाये थे। आपके द्वारा संचालित 'सती हितबोधिनी' और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में बच्चों के लिये कन्दुरीग, (ततैया), बादमकाय (बादाम), वरिकंकुलु (धान के भुट्टे), ब्राह्मणी मुंगीसा, (ब्राह्मणी और नेवला), परोपकार इत्यादि अनेक छोटी-छोटी कहानियाँ लिख चुके थे। वीरेशलिंगम समाज के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखते थे। इसीलिये भूत-प्रेत, परी कथाओं, अद्भुत मायावी रचनाओं से हमेशा दूर ही रहे। बच्चों के मानसिक विकास के लिये आपने जन्तुस्वभाव चरित्र, नामक ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना की, जिसमें बन्दर, कुत्ता आदि जानवरों के बारे में ज्ञानवर्धक छोटी-छोटी कहानियाँ लिखी थीं। वीरेशलिंगम की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही उस समय के नामी विद्वानों की दृष्टि बाल साहित्य पर पड़ी।

गंज्जेल रामानुजुलु नायनि ने, जो कडपा ज़िले के मुन्सिफ थे, सन 1874 में बालिकाओं के लिये 'सतीहित संग्रह' और बालकों के लिये 'विवेक संग्रह' पद्य संग्रह प्रकाशित किये हैं। 'विवेक संग्रह' ग्रन्थ का दूसरा मुद्रण उसकी छपाई के दूसरे साल में ही हुआ था। चार पंक्तियों में समाप्त छन्द में बच्चों के लिये सहज ग्राह्य शब्दों के माध्यम से सदाचार एवं नीति का प्रचार करना उस समय के लेखकों का ध्येय था। नमूने के लिये विवेक-संग्रह के एक पद्य का अनुवाद प्रस्तुत है:

माँ-बाप और धन-दौलत
बन्धुजन और प्राण-मित्र किसी काम के नहीं
केवल पढ़ाई ही ऐसी चीज है जो हमेशा संग रहती है

और जो उसे प्राप्त करता है समझो सब कुछ उसके
पास रहता है ।

सन 1882 में विख्यात तेलुगु शब्दकोश प्रेणता बहुजनपल्लि सीता-रामाचार्य के द्वारा रामायण, महाभारत आदि पौराणिक ग्रंथो के आधार पर टिप्पणी सहित 'सती धर्म-संग्रहमु' नामक पद्य-काव्य लिखा गया था।

उन दिनों पाठशालाओं के प्रबंधक निम्न-कक्षाओं के लिये योग्य पाठ्य-ग्रंथ का चयन करते थे। इस से लेखकों एवं प्रकाशकों को बाल-साहित्य के प्रकाशन में थोड़ा प्रोत्साहन मिलता था ।

प्रथम चरण के बाल-साहित्य में समकालीन परिस्थितियों के प्रभाव से नीतिवाद, सुधारवाद एवं उपदेशात्मकता की मात्रा ज्यादा रही । बच्चों के लिए अलग लिखने का तरीका तो अवश्य इसी समय से अपनाया गया था, फिर भी यह कहा जा सकता है कि बच्चों के मानसिक धरातल को छूने मैं उनकी रचनायें कामयाब नहीं रही ।

दूसरे चरण में सर्वश्री चिंता दीक्षितुलु, गिडुगु सितापति, वाविल-कोलनु सुब्बाराव, वेटूरि प्रभाकरशास्त्री, काटूरि वेंकटेश्वरराव, टेकुमल्ल नागेश्वरराव, नार्ल चिरंजीवि, श्रीवांस्तव, बाञ्जी आदि लेखकों ने बाल-साहित्य की सभी विधाओं में आधुनिक पद्धति के अनुरूप रचसायें की। भाषा, विषय-वस्तु, शैली आदि में पूर्व लेखकों से कहीं अधिक विकासोन्मुख दिशा में ये लेखक अग्रसर हुऐ हैं ।

गिडुगु सीतापति रचित 'रैलुबंडि पाट' (रेलगाड़ी का गीत), 'चिलुकम्मा पाट' (तोते का गीत) बच्चों के लिये गाने योग्य सिद्ध हुए हैं । तेलुगु साहित्य की समीक्षा के मानदंड 'भारती' पत्रिका के संपादक की हैसियत से भी सीतापति ने बाल-साहित्य के लिये भारती में स्थान दिया था।

चिंता दीक्षितुलु की बाल रचना-शैली आकर्षक है । बच्चों के मानसिक-परिवेश से वे खूब परिचित थे । बच्चों की भावनायें, संवेदनायें मुग्ध-मनोहर शैली में कहानियों, गीतों के रूप में मुखरित हुई हैं । आपकी 'नीलासुन्दरी कथा, गोम-मोहिनी उपन्यास, शम्पालता, बन्गारुपिलक

(बाल-गीत), 'सूरी, सीती और एंकी' उपन्यास काफी लोकप्रिय हैं। वेटूरि प्रभाकरशास्त्री तेलुगु साहित्य के बड़े विद्वात एवं समीक्षक थे, जिन्होंने बच्चों के लिये विविध पत्र-पत्रिकाओं में बाल-गीत प्रकाशित किये। उन गीतों का संकलन ही 'बाल-भाषा' के रूप में प्रकट हुआ है। नार्ल चिरंजीवि के 'तेलुगु पूलु, जाबिल्लि पाटलु, मन्दार वाल, कीलु बोम्मलु' आदि बालगीत संकलन विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीवास्तव के 'रतनाल नव्वु, जलतारु जाबिल्लि' गीत भी प्रसिद्ध हुए हैं।

यह जानकर खुशी होती है कि अंतर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष के संदर्भ में तेलुगु के अनेक बाल-ग्रंथ पुनर्मुद्रित हुए हैं और कई नई किताबें देखने को मिली हैं। निम्नलिखित पुस्तकों में से अधिकांश सन 1978, 1979 के आस-पास प्रकाशित या पुनर्मुद्रित हुई हैं।

गिडुगु वेंकटराममूर्ति द्वारा लिखित 'मनकु एमिकावालि' (हमें क्या चहिए) पुस्तक में 8–10 वर्ष के बच्चों के लिये पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के परिचय के साथ प्राथमिक विज्ञान संबंधी विषय जैसे कि व्यायाम, धूप, सफ़ाई, सूरज, कपड़ा-मकान, खान-पान आदि को कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। साधना प्रकाशन ने 8–10 वर्ष के बच्चों केलिये उपयुक्त कई कहनियाँ बाल-कहानीकारों से लिखवाकर 20-25 पृष्ठों के संकलन प्रकाशित किये हैं। हर कहानी के साथ आकर्षक चित्र भी छापा गया है। 'ओकरोज राजु' (एक दिन का राजा) नाम से लोक-कथा की शैली में श्री सीतराजु ने उपन्यास लिखा है। आपके अनेक उपन्यास और कहानी संकलन इसी लोक कथा शैली (वीर एवं साहसपूर्ण) में प्रकाशित हुए हैं।

'रामायणम' चित्रकथा के लेखक हैं लोकप्रिय फिल्म-लेखक श्री मुल्लपूड़ि वेंकटरमण और चित्रकार हैं आन्ध्र प्रदेश के ख्यातिप्राप्त चित्रकार एवं सफल फिल्म निर्देशक बापू। इसे 8-10 वर्ष के बच्चों के लिये सुन्दर साज-सज्जा सहित प्रस्तुत किया गया है। हर एक पृष्ठ में दो-चार पंक्तियों में कथा–विवरण और बाकी पूरे पृष्ठ में रंगीन पौराणिक चित्र हैं। इससे बच्चों के मन पर रामायण-गाथा चित्रों के रूप में अंकित हो सकती है। इन दोनों के प्रयत्न से ही 'बुड्डुगु' भाग-1 और भाग-2 नामक हास्य एवं व्यंग्य चित्रकथा का प्रकाशन हुआ है। यह व्यंग्य बच्चों से

ज्यादा बड़ों के लिये मनोरंजक सिद्ध हो सकता है। इसमें नटखट बालक 'बुड्गु' प्रधानपात्र हैं।

'बंगारु तल्लि' (सोने की माई) नामक पुस्तक श्री पालंकि वेंकट रामचन्द्रमूर्ति द्वारा लिखी गई है, जो सभी दृष्टियों से विशिष्ट बन पड़ी है। इसमें दो ऐतिहासिक कहानियां प्रस्तुत की गई हैं। पहली कहानी विश्व कवि रवींद्र के जीवन से सम्बन्धित हैं, और दूसरी ग्रीक बादशाह अलेग्जेंडर द्वारा भारत पर किये गये अभियान से सम्बन्धित है। इससे बच्चों के लिये अपेक्षित वीररस और देश की रक्षा की प्रेरणा मिलती है। पुस्तक की छपाई काफी बढ़िया हैं। साथ ही बापू के बनाये चित्र भी सुन्दर हैं। इसी लेखक का 'एमेस्को बोम्मल पञ्चतन्त्रमु' 6-8 वर्ष के बच्चों के लिए उपयुक्त चित्रकथा है। चित्रकार हैं बापू। एन. वी. जनार्धन राव कृत 'ना रष्या पर्यटन' (रूस की मेरी यात्रा) यात्रा सम्बन्धी रचना है। इसमें रूस के प्रमुख यात्रा स्थलों और उनकी विशेषताओं को सरल-शैली में प्रस्तुत किया गया है।

श्री मसूना एक सजग बाल रचनाकार हैं जिन्होंने बच्चों के लिये अनेक कहानियाँ, उपन्यास लिखे हैं। आपके 'पिल्ललुन्न इल्लु मल्लेपूल जल्लु' नामक ग्रन्थ में बाल साहित्य की रचना पद्धति पर 6 विवेचनात्मक निबन्ध संकलित हैं। चित्रकार बुज्जायि कृत 'पिल्ललु-पुव्वुलु' (बच्चे और फूल) को बाल गद्य शैली का उदाहरण कह सकते हैं। श्री के. सभा ने भी बच्चों के लिये काफी रचनायें कीं। आपका 'पिल्लल राज्यम (बच्चों का देश) नामक उपन्यास किशोरावस्था के बच्चों के लिये है। लब्ध प्रतिष्ठ गीतकार करुण श्री कृत 'तेलुगु बाल' पद्य-काव्य, कवि डॉ० मिरियाल रामकृष्ण कृत 'मुत्याल गोड्गु' (मोतियों की छतरी) बाल गीत 6-8 वर्ष के बच्चों के लिये योग्य है।

'रंग बाला' —5 बाल एकांकियों का संग्रह है। लेखक श्री एडिद कामेश्वरराव आकाशवाणी विजयवाड़ा केन्द्र में काफी समय तक बच्चों के कार्यक्रम सम्भालते रहे हैं और 'रेडियो अन्नय्या' (रेडियो भाई साहेब) के नाम से विख्यात हुये हैं। आप बच्चों के लिये काफी गीत, कहानियाँ, एकांकी आदि लिख चुके हैं। प्रस्तुत संग्रह में तीन तरह की—पौराणिक,

लोक और सामाजिक एकांकियां मिलती हैं। काफी अनुभवी बाल लेखक होने के नाते भाषा में सरलता, वस्तु-विश्लेषण मे स्पष्टता दिखाई पड़ती है।

नृत्य एवं संगीत कला में निष्णात श्री नटराज रामकृष्ण ने बच्चों में नृत्य एवं संगीत के प्रति रूचि उत्पन्न करने के लिये गद्य-शैली में चित्र सहित रचनायें प्रस्तुत की हैं। 'नर्तन सीमा, नर्तन बाला और नर्तन कथा' इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। नृत्य एवं संगीत सीखने वाले बच्चों के लिये ये काफी उपयोगी पुस्तके हैं। इस दिशा में आपकी पुस्तकें अनुपम कही जा सकती हैं।

ज्ञान-विज्ञान से संबन्धित पुस्तकें:—वैसे तेलुगु में ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथ बहुत कम प्रकाशित हुये हैं और बच्चो के लिये लिखित विज्ञान-ग्रंथ और भी कम। फिर भी इस दिशा में अनेक लेखकों ने प्रयास किया है। सर्वश्री एस. एल. नरसिंहाराव, विस्सा अप्पाराव, ए. वी. एस. रामाराव, कोडवटिगंटि कुटुंबराव आदि विज्ञान–ग्रंथ लेखक स्मरणीय हैं। श्री एस. एल, नरसिंहाराव के 'जंतुदर्शनम्' और 'जंतु पुराण' ग्रंथों को क्रमश : दक्षिण भाषा पुस्तक संस्थान और आंध्र प्रदेश सरकार की ओर से पुरस्कार मिले हैं। इन पुस्तकों में आपने विभिन्न जानवरों के स्वभाव, शारीरक निर्माण आदि के बारे में बच्चों के लिये आकर्षक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। श्री विस्सा अप्पाराव कृत आकाश (आसमान) को केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की ओर से आयोजित प्रतियोगिता में पुरस्कार प्राप्त हुआ है। श्री ए. वी. एस. रामाराव द्वारा बच्चों के लिये कई ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथ लिखें गये हैं। उनमें 'सौर परिवार का इतिहास', 'परमाणु की कहानी', 'विश्व रहस्य' आदि ग्रन्थ स्मरणीय हैं। वेमराज भानुमूर्ति के विश्वांतराळमु, अयस्कांतमु, भूमि, विद्युत आदि उल्लेखनीय हैं। ख्याति प्राप्त तेलुगु कथाकार तथा बाल पत्रिका चन्दामामा के सम्पादक श्री कोडवटिगण्टि कुटुंबराव अनेक ज्ञानवर्धक ग्रन्थ लिख चुके हैं। उनमें से 'शास्त्र परिशोधनलु' अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। 'विज्ञानकथासम्पुटि' नाम से 5 भागों में जयश्री और मल्लिक ने लिखा है।

अनूदित बाल साहित्य : तेलुगु बाल साहित्य के विकास की आरम्भिक दशा में भारतीय भाषाओं से अधिक विदेशी भाषाओं, मुख्यतः

अंग्रेजी में प्रकाशित बाल उपन्कास, एवं कहानियों का तेलुगु में अनुवाद हुआ है। 'ईसफ फेबल्स' तेलुगु बाल साहित्य के अन्तर्गत किसी विदेशी भाषा का पहला तेलुगु अनुवाद कहा जा सकता है। जिसे बाल साहित्य के आद्य रचनाकार वीरेशलिंगम ने करीब सन 1870 के आसपास ही अनूदित किया था। ईसफ कहानियों के बाद अन्य लेखकों ने भी तेलुगु में पद्य एवं गद्यके रूप में अनूदित किया है। मार्क ट्वाइन कृत 'प्रिन्स एण्ड पापर, एडवेंचर्स ऑफ हक्ल बेरीस' तथा अन्य पाश्चात्य लेखकों के 'ट्रेजर आइलैण्ड, डान-क्विक्जोट' आदि पुस्तक अनूदित होकर पत्र-पत्रिकाओं में और पुस्तकों के रूप में भी छप चुकी हैं। अनूदित ग्रन्थों के प्रकाशन से तेलुगु के उदीयमान बाल लेखकों को मार्गदर्शन मिला। 'गुलिवर्स ट्रावल्स' उपन्यास को श्री काल्लकूरि हनुमन्तराव और श्री कमलाकर वेंकटराव ने अलग अलग रूप से अनूदित किया है। जाक लण्डन कृत 'दि काल आव द वाइल्ड' उपन्यास का अनुवाद श्री कोडवटिगण्टि कुटुंबराव ने किया था। बाल साहित्य लेखन में ख्याति प्राप्त चिन्ता दीक्षितुलु की कुछ रचनायें अंग्रेजी रचनाओं के आधार पर बनी हैं। जोन आफ आर्क, का अनुवाद श्री लतानाथ ने किया है। 'राबिनसन क्रूसो' उपन्यास का अनुवाद गिडुगु विशालाक्षी ने किया है। 'सिण्डबाद सैलर्स' का 'सिन्द्बाद साहस यात्रलु' नाम से दासबाबू ने अनूदित किया है। चार्लेस डिकेन्स कृत 'ग्रेट एक्सपेक्टेशन्स' थामस कृत 'टाम् ब्राऊन स्कूल डेज' माक्जिम गोर्की की 'टेल्स ऑफ इटली' टॉलस्टाय की बाल कहानियाँ आदि अनेक ग्रन्थ आरम्भ से लेकर आज भी बच्चों के लिये अनूदित होते आ रहे हैं।

संस्कृत के, पञ्चतन्त्र से लेकर रामायण, महाभारत, भागवत, कालिदास कृत अभिज्ञान–शाकुन्तलम् भट्ट नारायण कृत वेणीसंहारम् आदि अनेकानेक पौराणिक ग्रंथों को बच्चों केलिये छोटे–छोटे पद्य काव्य, उपन्यास और कहानियों के रूप में तेलुगु में अनेक लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया गया हैं।

लोक-कथायें या दंत-कथायें भी तेलुगु में बाल-साहित्य के रूप में प्रकट हुई हैं। राजा कृष्णदेवराय के आस्थान विदूषक तेनाली रामलिंगम् की कहानियाँ, हास्य-पूर्ण परमानंदय्या के शिष्य, मिडतम् बोट्लु, काशीमजली कथलु, पेदरासि पेद्दम्मा कथलु, परी-कथायें इत्यादी कहानियों एवं उपन्यासों के रूप में देखने को मिलती हैं।

ऐतिहासिक कथाएँ : मध्यकालीन राजाओं की साहस गाथायें और महापुरुषों के जीवन–चरित भी बाल–साहित्य के रूप में 'पल्नाटि युद्ध, बोब्बिलि युद्ध, मन्त्री तिम्मरूसु, राणी रूद्रमाँबा, सर्वायि पापडु, भक्त रामदास, भक्त त्यागराज, सन्त वेमना, महाकवि पोतना आदि अनेक महापुरुषों तथा ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर कहानी उपन्यास, एकांकी, गीत-नाट्य, पद्य काव्य आदि सभी विधाओं में बाल रचनायें प्रकाश में आई हैं।

तेलुगु बाल-साहित्य के विकास केलिये कई सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं ने भी काफी प्रोत्साहन दिया। इस सन्दर्भ में सन 1947 में मद्रास सरकार द्वारा स्थापित तेलुगु भाषा समिति, आंध्र प्रदेश सरकार की पुरस्कार योजना, सन 1955 में स्थापित दक्षिण भाषा पुस्तक संस्था, भारत सरकार की राष्ट्रीय शिक्षा, शोध एवं प्रशिक्षण परिषद, केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी आदि संस्थाओं ने पुरस्कार प्रतियोगितायें चलाकर तथा ग्रन्थ प्रकाशन के लिये आर्थिक अनुदान देकर स्वस्थ बाल साहित्य को प्रकाश में लाने का स्तुत्य प्रयास किया है।

तेलुगु में बाल पत्रिकाओं की शुरूआत सन 1944 से 'बाला' नामक पत्रिका से हुई है। आज चन्दामामा, बालमित्र, बोम्मरिल्लु, बाल चन्द्रिका, प्रमोद, बुज्जायि, बाल भारती, माँ बड़ी, पाठशाला, बालज्योति आदि बाल पत्रिकायें देखने को मिलती हैं। लेकिन एकाध पत्रिका ऐसी हैं जिनमें बच्चों के मनोविकास को दृष्टि में रखकर रचनायें दी जाती हैं। जैसे कि हिन्दी दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में बाल साहित्य के लिये शीर्षक रखे जाते हैं उसी तरह तेलुगु में भी बाल शीर्षक दिये जाते हैं।

तेलुगु में बाल रचनाकारों की कमी नहीं हैं। यहाँ के बड़े लेखक भी बाल रचनायें करने में झिझकते नहीं। लेकिन समस्या प्रकाशन की है। पाठकों का क्षेत्र सीमित है। बाल साहित्य के नाम से कई पुस्तकें छप रही हैं। छपाई बच्चों के अनुकूल नहीं होती, चित्र उपयुक्त नहीं होते, कागज घटिया होता है, सामग्री अधिकतर लोक-कथा–शैली में या भूत-प्रेत, परीकथाओं से भरपूर होती हैं। फिर भी कभी-कभी अच्छी चित्रकथा पुस्तकें, साज–सज्जा की दृष्टि से बालकों के लिये आकर्षक पुस्तकें देखने को मिलती हैं और आशा बन्ध जाती हैं कि भविष्य में अच्छे–अच्छे तेलुगु बाल-ग्रन्थ प्रकाश में आ सकेंगे।

8

आंध्र प्रदेश में खिलौना उद्योग

आन्ध्र प्रदेश में खिलौनों के उद्योग के चार प्रधान केंद्र हैं : कोण्डपल्ली (कृष्णा जिला), निर्मल (अदिलाबाद जिला), एटिकोप्पाका (विशाखा जिला) और तिरुपति (चित्तूरु जिला)। इनमें से कोण्डपल्ली सब से प्राचीन केन्द्र माना जाता हैं। इतिहासकारों का कहना है कि कोण्डपल्ली खिलौने के उद्योग के मूल कलाकार आर्य-क्षत्रिय वंश के थे जो 15वीं सदी में मध्य प्रदेश और राजस्थान से आकर कोण्डपल्ली में बस गये हैं और उन्होंने यहाँ के खिलौने उद्योग के विकास में विशेष योगदान दिया है। कुछ इतिहासकारों का कहना हैं कि यह कला सन 1363 के पूर्व से भी मौजूद थी।

कोण्डपल्ली गाँव आज आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा जिले के अन्तर्गत, विजयवाड़ा शहर से 22 किलोमीटर की दूरी पर प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठ-भूमि में और पहाड़ी श्रृंखलाओं के बीच बसा हुआ है। इस गाँव की आबादी अब लगभग 15 हजार की होगी। कोण्डपल्ली के आस पास कई कारखाने लग गये हैं। सदियों से खिलौने उद्योग में लगे अनेक आर्यक्षत्रिय आज इस पेशे को छोड़ अन्यत्र काम करने लगे हैं। आजकल इस कोण्डपल्ली गाँव में केवल 25-30 परिवार इस उद्योग में लगे हुये हैं। फिर भी इस ह्रासोन्मुख कला को और यहाँ के कारीगारों के उद्धार करने के लिये सरकार की ओर से बहुत सीमित प्रयत्न जारी हैं।

कोण्डपल्ली में प्रति वर्ष करीब एक लाख रूपयों के खिलौने तैयार किये जाते हैं, जिनमें से 60 प्रतिशत खिलौने निर्यात किये जाते हैं। साथ ही देश भर में व्याप्त सरकारी हैण्डीक्राफट्स विभाग यहां के खिलौनों को खरीदते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि आज इन खिलौनों के लिये विदेशों में काफी मांग है। लेकिन यहाँ के कारीगर सीमित संख्या में हैं और वे भी बहुत पुराने ढ़ंग से खिलौनों की तैयारी करते हैं। इसलिये

विदेशी मांग के अनुसार खिलौने यहाँ पर तैयार नहीं हो पा रहे हैं । किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिये विदेशी मुद्रा अत्यन्त आवश्यक अंग माना जाता है । अत : सरकार द्वारा काफी सजगता के साथ इस उद्योग के लिये आवश्यक कदम उठाना जरूरी है ।

अब हमें कोण्डपल्ली में खिलौने निर्माण के कारीगर जो विधिविधान अपनाते हैं, विस्तार से चर्चा करनी चाहिये । इस लघु उद्योग के लिये 'तेल्ल पुनिकि' लकड़ी आवश्यक सामग्री है । इसके बाद इमली के बीज, बबूल का गोंद, रंग, वार्निश, कपड़ा, कागज आदि अन्य कच्चे माल हैं । यह लकड़ी बहुत हल्की, नक्काशी करने योग्य मुलायम रहती है । संयोग की बात यह है कि लकड़ी अन्य कार्यों के लिये उपयुक्त नहीं है । खिलौने बनाने के औजार बहुत सामान्य हैं । इन औजारों का मूल्य लगभग दो या तीन सौ रुपये मात्र है ।

पहले तेल्ल पुनिकि लकड़ी को जंगल से लाकर उसे आवश्यकता के अनुसार छोटे-छोटे टुकड़ों में काट दिया जाता है और उसे 10-15 दिन तक छाया में सुखा दिया जाता है । इन टुकड़ों को फिर खिलौनों के परिमाण के अनुकूल तिकोनाकार में काट दिया जाता है । दूसरी विधि होती है — एक अंगीठी में आग डालकर ऊपर आरे का भूसा (लकड़ी को आरे से काटने से जो भूसा निकलता है) डालते हैं । अंगीठी के ऊपर लोहे की छलनी रखकर उस पर इन लकड़ियों के छोटे-छोटे टुकड़ों को तापा जाता है । इस धीमी आंच से लकड़ी के अन्दर जो भी नम रह जाता है वह दूर हो जाता है । इससे खिलौने बनने के बाद टेढ़े नहीं होंगे ।

नाक, कान, हाथ, उंगलियां आदि शारीरिक भागों को अलग से तैयार करते हैं । इमली के बीज पीस कर उबालने से जो गोंद तैयार हो जाता है, उसमें थोड़ा बबूल का गोंद मिलाकर पेस्ट तैयार किया जाता है । इस पेस्ट के सहारे शरीर के अन्य भागों को मूल भाग से चिपकाते हैं । बाद में पूरे खिलौने को सफेद रंग से पोता जाता है । उसके बाद इन खिलौनों पर रंग–सज्जा तथा रूप रेखायें कूंची के द्वारा खींचते हैं । कूंची की तैयारी बकरी के बालों से करते हैं । ये बाल बहुत सूक्ष्म तथा मुलायम भी रहते हैं। रंग सज्जा के लिये टेम्परा रंग, सिन्दूर, जंगार, इंजरफ आदि का भी उपयोग करते हैं । इन रंगों में बबूल का गोंद भी मिलाया जाता है ।

कुछ खिलौनों पर रंगालंकरण के बाद वार्निश भी पोता जाताहै, जिससे खिलौने चमकीले होते हैं और पानी पड़ने पर भी रंग घुल नहीं जाता। कारीगर परिवार के सभी लोग स्त्रीपुरुष, बच्चे इस काम में लगे रहते हैं। आमतौर पर औरतें रंगालंकरण करती हैं।

कारीगर को अपनी मिट्टी से ज्यादा लगाव रहता है। वह अपने आस–पास के प्राकृतिक सौन्दर्य, जन्तु सम्पदा, सामाजिक रीति–रिवाज, देवी देवताओं आदि से अवश्य प्रभावित हो जाता है। कोण्डपल्लि के खिलौनों की रूप रेखायें, रंग-सज्जा और आकार-प्रकार इस प्रभाव से दूर नहीं हुये हैं। कोण्डपल्लि में निर्मित होने वाले कुछ खास खिलौने इस प्रकार हैं: दशावतार, अम्बारी अलंकृत हाथी, ऊँट, बैलगाड़ी, धोबी, नाई आदि ग्रामीण जातियों के नमूने, कलवार जो ताड़ के पेड़ पर चढ़कर ताड़ी खींचना, मयूर, गाय और दूध पीता हुआ बछड़ा, आदि खिलौने लोकजीवन से सम्बन्धित तथा सहज सौंदर्य के कारण आकर्षणीय एवं लोकप्रिय हुये हैं। गृहालंकरण के लिए इनका उपयोग किया जाता है। इन खिलौनों को शीशे की अल्मारियों व ड्राइंग रूम की मेज पर सजाने से घर की शोभा बढ़ती है।

आज खासकर अमेरिका और अन्य पाश्चात्य देशों की जनता औद्योगीकरण माहौल से काफी ऊब गई हैं। अब मशीनों से बनी चीजों से अधिक हाथ से कोमल और सुन्दर-ढ़ंग से बनीं चीजों के लिये वे लोग तरस रहे हैं। इस संदर्भ में भारत जैसे गरीब और दस्तकारी कलाओं के के लिये सदियों से विश्वभर में विख्यात देश, लघु उद्योगों को तेजी से विकसित कर काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकते हैं।

भारत की रोजगार-समस्या बड़ा जटिल है। इस समस्या को सुलझाने के लिये लघु उद्योगों का विकास नितान्त आवश्यक है। नाममात्र की लागत, सीमित तकनीकी और आस-पास मिलने वाली सामग्री से लघु-उद्योग चला सकते हैं। आकंड़ों के अनुसार भारी उद्योग के अन्तर्गत एक लाख रुपयों की पूंजी से केवल 4 लोगों को रोजगार दिला सकते हैं, जबकि लघु उद्योग के अन्तर्गत इतनी ही लागत में 21 से अधिक लोगों को काम दिला सकते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुये सरकार लघु उद्योगों के विकास के लिए कटिबद्ध है।

'कोण्डपल्ली खिलौने के कारीगर सहकारी संघ' की स्थापना सन 1936 में हुई थी। इस संघ को केन्द्र दस्तकारी विभाग (सेन्ट्रल गवर्नमेंट हैंण्डीक्राफट्स) से और प्रादेशिक दस्तकारी विभागों की ओर से आवश्यक खिलौनों के लिये आदेश (आर्डर्स) मिलते हैं। इन आदेशों के अनुरूप सहकारी संघ अपने सदस्यों को खिलौने तैयार करने का काम सौंपता है। खिलौने तैयार होते ही संघ उन कारीगरों से खिलौने इकट्ठे कर आदेशित संस्थाओं एवं विभागों को माल भेजता है। खिलौनों का मूल्य निर्धारण सहकारी संघ ही करता है। कोण्डपल्ली खिलौनों के लिये देश-विदेशों में इतनी मांग है कि प्राप्त आदेशों को यहाँ के कारीगर निर्धारित समय के अन्दर तैयार नहीं कर पा रहे हैं। इसके मुख्य कारण हैं : (1) कारीगरों का अभाव, (2) आवास की समस्या और खिलौनों की निर्माण पद्धति में पुरानापन।

अब हमें उक्त बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। नये कारीगरों को तैयार करने के प्रयत्न में सरकार द्वारा प्रथमतः 1958 में कोण्डपल्ली में खिलौने करीगर प्रशिक्षण केन्द्र खुला था। जो बराबर तीन साल तक चला। अब भी कोण्डपल्ली में छात्रों को एक साल का खिलौने बनाने का प्राथमिक प्रशिक्षण मिल रहा है। इस प्रशिक्षण से छात्र को खिलौने बनाने का आरम्भिक सूत्र मात्र मिल जाते हैं। इसलिये इन्हें अन्य कारीगरों पर निर्भर करना पड़ता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये वहाँ के मास्टर क्राफट्समैन के कहने के अनुसार प्राथमिक प्रशिक्षण के बाद एक साल का 'एडवान्सड ट्रेनिंग कोर्ज' का आरम्भ करना भी अनिवार्य है, जिससे छात्र को खिलौने बनाने का पूरा-पूरा ज्ञान और अनुभव प्राप्त हो जायेगा और वह प्रशिक्षण केन्द्र से बाहर जाकर तैयार कर जीविका चला सकेगा। वर्तमान प्रशिक्षण एवं सुविधायें छात्रों के लिये बहुत सीमित हैं। आवश्यक सुविधाओं के साथ प्रशिक्षण का तरीका शास्त्रीय पद्धति से होनी चाहिये, जिससे बाहर के उत्साही कारीगर भी इस प्रशिक्षण मे दाखिल होकर लाभ उठा सकें।

कोण्डपल्ली में अब जो कारीगर खिलौने उद्योग में लगे हुये हैं, उनकी समस्याओं पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। आज कोण्डपल्ली औद्योगीकरण की चपेट में आ गई हैं। इस गाँव के आसपास भारी विद्युत थर्मल प्लाण्ट आदि अनेक कारखाने लग गये हैं। इस कारण से यहाँ के कारीगर कम आमदनी वाले खिलौने के उद्योग को छोड़कर मजदूरी करने के लिये ज्यादा उत्सुक हैं। सबसे जटिल समस्या है, आवास की। इनकी झोपड़ियों में जगह की कमी है, बिजली का बन्दोबस्त भी नहीं है। खासकर ये लोग घर के आंगन में बैठकर खिलौने बनाते हैं। बिजली के अभाव से ये लोग केवल दिन में ही खिलौने बना सकते हैं। दूसरी बात यह है कि वर्षा ऋतु के दिनों में खिलौनों का उद्योग जगह और प्रकाश के अभाव में बन्दकर देना पड़ता है। इन समस्याओं को दूर करने के लिये सरकार की ओर से इन कारीगरों के निवास और उद्योग चलाने के लिये एक योग्य टाय-कालोनी की आवश्यकता है। इससे कारीगर बाहरी प्रभावों से मुक्त तथा स्वावलम्बित रह सकते हैं। दिन रात और वर्षा ऋतु में भी अपना उद्योग चला सकते हैं।

अन्तिम और सब से मुख्य समस्या है कि ये लोग बहुत पुराने ढंग से खिलौने तैय्यार करते हैं। इस से कई नुकसान हैं: 1) कारीगर को श्रम का फल नहीं मिलता, 2) तैय्यारी में देरी और 3) क्वालिटी में गिरावट।

पुराना जमाना ही अलग था। उनके पास काफी समय था। राजाओं का आश्रय भी प्राप्त था। इसलिये वे लोग रंगों की तैयारी, नक्काशी आदि बड़ी सावधानी के साथ किया करते थे। रंगों की तैय्यरी पेड़-पौधों और पत्तों से किया करते थे। इसलिये वे रंग बहुत समय तक टिके रहते थे। लेकिन अब समय बदल गया हैं। काम में तेजी और नैपुण्य की आवश्यकता है। फिर भी ये लोग समय के अनुरूप काम नहीं कर पा रहे हैं। खिलौनों की तैय्यारी में आरम्भ से अन्त तक करीब 8–10 दिन लगाते हैं। इस से कारीगर को श्रम का फल नहीं मिलता। आज पूरे परिवार को इस उद्योग द्वारा केवल 8-10 रूपये मात्र प्रतिदिन प्राप्त होते हैं। दूसरी बात यह है कि विदेशी मांग के अनुरुप निर्धारित समय के अन्दर आवश्यक मात्रा में खिलौने तैयार नहीं हो पाते। आजकल कारीगर वाटर कलर्स इस्तेमाल

करते हैं, जो सस्ता और खिलौनों का रङ्ग जल्दी छूट जाता है। फलतः खिलौनों क़ी क्वालिटी कें साथ लोकप्रियता भी घटने की सम्भावना है। साथ ही खिलौने तैय्यार करने वाले औजार भी बहुत पुराने ढंग के हैं। इसलिये काम में देरी हो जाती है। औजारों के परिवर्तन के साथ आवश्यकता के अनुसार मशीनों की सहायता लेना भी जरूरी है ।

ध्यान देने की बात यही है कि खिलौनों की तैय्यारी में जो भी नये तारीके अपनायें, बहुत सूझ-बूझ के साथ विचार करके कदम उठाना चाहिये वरना, इसका बुरा प्रभाव सारे उद्योग पर पड़ेगा। इसलिये इस उद्योग की प्राचीनता और मौलिकता को दृष्टि में रखकर निर्माण पद्धति में, रङ्ग, गोंद आदि सामग्री की उपयोगिता में, इस उद्योग के जो अनुभवी एवं मर्मज्ञ हैं उनके सलाह के अनुसार परिवर्तन लाने की जरूरत है। जिससे उद्योग में गति आयेगी, नये लोगों के लिये उपाधि मिलेगी और काफी विदेशी मुद्रा भी प्राप्त हो सकेगी।

9

आंध्र प्रदेश के मछुआरों का जीवन

आन्ध्र प्रदेश के अन्तर्गत समुद्री तट की लम्बाई 970 किलोमीटर है जो भारत के अन्य राज्यों की लम्बाई की तुलना में तीसरा स्थान ग्रहण करता है। बंगाल की खाड़ी से लगे इस तटवर्ती प्रान्त में करीब 500 मछुओं के गांव हैं, जिनमें करीव पाँच लाख की आवादी बसी हुई है। मछुओं की आबादी की दृष्टि से केरल के बाद आन्ध्रप्रदेश का स्थान सबसे ऊपर है। आन्ध्र प्रदेश की दक्षिणी दिशा में स्थित नेल्लूर जिले के सूल्लूरू पेटा से लेकर उत्तरी दिशा में श्रीकाकुलम जिले के इच्छापुरम तक यह बंगाल की खाड़ी व्याप्त है। सुदूर मद्रास से लेकर पश्चिम बंगाल तक जो सागर तट है उसे 'कोरमण्डल कोस्ट' के नाम से भी पुकारा जाता है। इस भाग में स्थित समुद्र का किनारा—गहराई, लहरों का फैलाव और ऊँचाई की दृष्टि से अत्यन्त भयानक है। अकसर बंगाल की खाड़ी में उठने वाले आंधी और तूफानों के कारण यहाँ का तीर प्रांत अपार हानिकारक भी है। प्रलयंकारी सागर पर निर्भर यहाँ के मछुओं का जीवन भी डावांडोल की स्थिति में गुज़रता है।

विशाखापट्टनम शहर आजकल औद्योगीकरण, नौवहन की सौलभ्यता के कारण दिन–प्रति–दिन दूर–दूर तक फैलती जा रही है। बड़े-बड़े कल-कारखाने, तरह-तरह के कार्यालय, शिक्षा-संस्थायें फलते-फूलते जा रहे हैं। देश-विदेशों को जोड़ने वाला विशाखापट्टनम बन्दरगाह जो भारत में उपस्थित तीसरा बड़ा बन्दरगाह माना जाता है। और इस प्रकार यहाँ पर हर तरह के आदमी की उपाधि और बढ़ोत्तर के मार्ग प्रशस्त हैं। भारत के सभी राज्यों से लोग यहाँ पहुँचकर तरह-तरह के जीवन यापन करते जा रहे हैं। लेकिन शताब्दियों से शहर के नजदीक बसे हुये इन मछुओं की जीवन–धारा में जरा भी परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता। इन लोगों की अशिक्षा, अन्ध-विश्वास, गरीबी जैसी की तैसी बनी हुई है।

विगत अनेक वर्षों से विशाखापट्टनम के आस-पास के समुद्र में यन्त्र-चालित और बड़े पैमाने पर मछली पकड़ने वाली बोटों से शिकार खेला जा रहा है। सन सत्तर दशक से इन बोटों की संख्या बढ़ने लगी। कई बाहर के धनी लोग इन यन्त्रचालित बोटों के सहारे खूब धन कमाने लगे हैं। यहाँ से विभिन्न देशों को बन्द डिब्बों में मछलियाँ निर्यात की जाती हैं। 1980-81 के आंकड़ों के मुताबिक कोच्चीन और मद्रास की बन्दरगाहों के बाद विशाखापट्टनम बन्दरगाह से निर्यात की जाने वाली मछलियों से प्राप्त विदेशी मुद्रा बाकी सभी बन्दरगाहों से अधिक है। व्यापार की दृष्टि से यहाँ पर मिलने वाली निम्नलिखित मछलियों की जातियाँ महत्वपूर्ण मानी जाती हैं: सारडाइन, वाइट बेइट, जू फिश, फ्रान, सीर, मुल्लेट आदि। यन्त्र चालित बोटों के लिये यहाँ पर एक बड़ा फिशिंग हारबर है, जहाँ से मछलियाँ, मछली-व्यापार संस्थाओं को बेची जाती हैं।

मछुओं के कथनानुसार यन्त्र-चालित बोटों के चलने से उनके जीवन पर बुरा असर पड़ा है। इन बोटों की संख्या बढ़ने के कारण मछुओं के देशी और पिछड़ी हुई साधन-सामग्री के सहारे मछली मिलना असम्भव हो गया। कम से कम उन बोटों में इन गरीब मछुओं को मजदूर के रूप में भी स्थान नहीं मिला। फलतः मछुओं और बोट कर्मचारियों के बीच में सत्तर दशक में सागर में ही भीषण संघर्ष चले। कई लोग घायल हुये और कुछ लोगों की जानें भी गयीं। अन्त में मछुओं और बोट-मालिकों के आपस में समझौता हुआ। मछुआरों के गाँव के आस-पास बोटों को चलाने से रोक दिया गया। फिर भी यहाँ के मछुआर आज भी इन बोटों को अपनी जीवनोपाधि के लिये घातक मानते हैं।

यहाँ के मछुये अपने को महाभारत के राजा शन्तनु की सन्तान मानते हैं और इस तरह अपने को गंगा–पुत्र समझते हैं। वस्तुतः आन्ध्र प्रदेश के सागर तटवर्ती इलाके में तीन प्रकार के मछुआरों की जातियाँ बसी हुई हैं: 1) 'जालारी' जिसकी उत्पत्ति जाल नामक संस्कृत शब्द से हुई है। 2) 'वाडोल्लु' वाडा या ओडा तेलुगु शब्द है जिसका अर्थ नाव है। और 3) 'पल्लीयुलु' पल्लमु नामक तेलुगु शब्द से इसकी उत्पत्ति हुई है। पल्लमु का अर्थ कछार है। तात्पर्य—कछारों में निवास करने वाले। ये तीनों जातियाँ हिन्दू धर्म के शूद्र वर्ण के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। इन लोगों

की मातृभाषा तेलुगु है। अशिक्षित और अन्य जातियों से कम सम्पर्क बने रहने के कारण इनकी बोली में एक विशेष प्रकार की गंवारुपन आ गई है। ये लोग सागर किनारे, प्राकृतिक बन्धनों के बीच – जैसे कि समुन्दर के अति निकट और समुन्दर में मिलने वाले नदी-नालों के किनारे, रेत के टीलों पर गाँव बसा लेते हैं। इस तरह ये लोग खास परिवेश, एवं परिस्थितियों के बीच एक अलग सामूहिक जीवन बिता लेते हैं। बाहरी दुनिया से अलगाव के साथ इन लोगों के अपने अलग आर्थिक और सामाजिक जीवन, आचार-विचार, खास देवी-देवताओं की उपासना, जादू-टोना आदि पर विश्वास के कारण ये लोग एक विशेष जन-जाति का रूप लिये हुये हैं।

मछुआरों की औरतें सर पर मछलियों की टोकरी धरकर बहुत दूर-दूर के गांवों और शहरों की गलियों में मछलियाँ बेचती हैं। सागर की आबो-हवा शरीर और मन को थका देने वाली दौड़-धूप के कारण इनका शरीर काला और पतला रहता है। ओढ़ने और पहनने में सावधानी नहीं बरततीं। ये औरतें मछली बेचने में काफी चतुर, मुंहफटी और बातें करते वक्त शब्दों को खींचती हैं। यदि ग्राहक कुछ धलुआ मांगेगा तो झट से गाली-गलौज सुनाने में आगे-पीछे नहीं करतीं। मुंह पर अकसर चुरुट लगा रहता है। मछुये (पुरुष) नाव और जाल की सहायता से समुन्दर में मछलियाँ पकड़ते हैं और औरतें घर-बार सम्भालने के साथ साथ मछली बेचतीं, बाजार से रोजमर्रे की चीजें खरीदतीं हैं। इसलिये मछुये के आर्थिक और सामाजिक जीवन में औरतों का विशेष योगदान रहता हैं।

अकसर यह देखा जा सकता है कि मछुए केवल मछली पकड़कर और उसे बेचकर अपनी जिन्दगी गुजार लेते हैं। ये लोग अन्य जातियों की तरह अपने पेशे के आलवा खेतीबारी, रोजगार आदि काम-काज या व्यापार नहीं करते। मछली मारने और बेचने का तरीका वही पुराना और देशी हैं। इसीलिए इनके आर्थिक और सामाजिक जीवन में कोई प्रगति नहीं हो पा रही है।

मौसमी उतार-चढ़ाव के बावजूद साल भर ये लोग मछलियाँ पकड़ते रहते हैं। आमतौर पर मछुए टोलियाँ बनाकर अलसुबह तीन या चार बजे से जाल और डण्डे लेकर अपनी देशी नौकाओं पर समुन्दर में

उतर पड़ते हैं। करीब दुपहर तक मछलियाँ मारकर तट पर पहुँच जाते हैं। ये लोग समुद्र तट से एक या दो किलोमीटर की दूरी के अन्दर ही मछलियाँ पकड़ते हैं, जहाँ समुद्र की गहराई कम होती है। वैसे तो साल भर फेन उगलती लहरें निरन्तर गरजते हुए तट को थपेड़ती रहती हैं। वर्षा ऋतु (जून से लेकर सितम्बर तक) में अकसर वर्षा, आँधी और तूफानों से समुन्दर काफी भयानक रहता है। समुन्देर की सरपट लहरें दौड़तीं, कूदती ऊपर उठती रहती हैं। उस मौसम में कुछ दिनों के लिए मछली पकड़ना असम्भव हो जाता है।

यहाँ के मछुओं का विश्वास है कि 'नीटि काकि' (सी-गल) नामक सामुद्रिक–पक्षी मछलियों के झुण्ड को पहचानने में काफी सहायक होती हैं। जिन स्थानों पर यह जल-पक्षी बार–बार मण्डराती हैं, वहीं पानी में मछलियों का भण्डार पाया जाता है। यदि मछुए ठीक उस जगह पर अपना जाल फ़ैलाते हैं तो वह सारी की सारी मछलियाँ हस्तगत कर सकते हैं।

ये लोग अपनी साधन–सामग्री, मौसमी उतार–चढ़ाव और सह–योगियों की संख्या के आधार पर मछली पकड़ने का तरीका अपनाते हैं। आमतौर पर यहाँ दो प्रकार के शिक़ार खेले जाते हैं: 1) बड़े जालों का शिकार और 2) छोटे जालों का शिकार। बड़े जाल का उपयोग साल भर में करीब पाँच महीने तक करते हैं। अकसर अक्तूबर से (दशहरा त्योहार मनाने के दो चार दिन के बाद) लेकर फरवरी तक यह बड़ा शिकार खेला जाता है। क्योंकि इस समय में समुन्दर शान्त और लहरें मन्द-गति से फैलती रहती हैं। बडे जाल का शिकार खेलने के लिये बड़ी नाव के साथ करीब–करीब बीस या तीस शिकारियों की जरूरत होती है। जब बड़े जाल के द्वारा शिकार खेलने का मौसम खतम हो जाता है तो छोटे जालों कें सहारे और छोटी नावों पर दो से आठ आदमियों की टुकड़ी बनाकर मछली मारते हैं। सभी टुकड़ियों के पास मछली पकड़ने के लिये अपनी-अपनी नाव व जाल नहीं रहते। गाँव के मछुओं में थोडे लोग ही नाव और जाल के मालिक होते हैं। मछली पकड़ने वाली टोलियाँ इन मालिकों से किराये पर नाव और जाल ले लेते हैं और मछली का शिकार खेलते हैं। इन किराये जाल और नावों के सहारे जो कुछ मछली पकड़ी जाती है, उसमें से एक तिहाई भाग क़िराये के रूप में मालिकों को दे दिया जाता है और बाकी भाग मछुआरे आपस में बराबर-बराबर बाँट लेते हैं।

मछुए परिवार के सभी लोग मछली पकड़ने और बेचने के साथ नावों की तैयारी, जाल की बुनाई में लगे रहते हैं। पहले पटसन की रस्सियों से जाल बुन लेते थे, लेकिन आजकल नाइलोन के धागे खरीदकर बुनते हैं। उनके कहने के अनुसार बाजार में एक किलो नाइलोन के धागे का दाम लगभग दो सौ रुपये है। पांच सौ रुपयों में एक छोटा-सा जाल तैयार किया जाता है। इस प्रकार के पाँच छोटे जालों के सहारे एक छोटी नाव द्वारा शिकार खेलते हैं। जबकि बड़े जाल का दाम करीब पच्चास हजार रुपयों तक माना जाता है। छोटे जालों के सहारे एक दिन में पकड़ी गई मछलियों पर पच्चीस रुपये से लेकर दो या तीन सौ रुपये तक की रकम मिल जाती है। बडे जालों के सहारे दो से तीन हजार रुपयों तक की मछली पकड़ी जाती है। कभी निश्चित मात्रा में मछली नहीं मिलती। कभी निराश होना पड़ता है तो कभी आशातीत सम्पत्ति भी मिल जाती है। गाँव के प्रत्येक युवक मजदूर मछुए के रूप में अपना आर्थिक जीवन आरम्भ करता है। धीरे-धीरे मछली मारने में अनुभव और कुछ पैसे कमाने के के बाद खुद नाव और जाल का मालिक बन जाता है और वह अपनी टुकड़ी बना लेता है।

मछुये शिकार में प्राप्त मछलियों को तट पर ही ठेकेदारों और परचूनी व्यापारियों को बेच देते हैं। और यह व्यापारी बर्फ की पेटियों में भरकर अन्य राज्य के शहरों को भेज देते हैं। अकसर व्यापारी लोग बड़े जालों से शिकार खेलते समय मछुआरों के पास आ जाते हैं और उन्हें पैसे उधार देते हैं। उसके बदले में मछुआरें अपनी मछलियों को पूरे साल भर उन ठेकेदारों को बेचना पड़ता है। औरतें भी छोटे पैमाने पर मछलियों का व्यापार करती हैं, जो अपने गाँव के आसपास के गाँवों और बस्तियों में बेचती हैं।

यदि कभी मछलियों को तुरन्त बेचने में सम्भव न हो सका तो घर ले जाते हैं, वहाँ पर औरतें मछलियों को साफ करती हैं, अनावश्यक भागों की काट-छांट करती हैं। और मिट्टी के बरतनों में नमक के साथ मिला देती हैं। अगले दिन मछलियों को धूप में सुखा देती हैं। यदि मछली बड़े बड़े आकार की हो तो उन्हें टुकड़ों में काटकर सढ़ने वाले भागों को निकाल फ़ेंकती हैं और उन टुकडों को तीन दिन तक नमक भरे पानी में भिगो देती हैं। और ताड़ के पत्तों पर धूप में तीन दिन तक सुखा देती हैं इन सूखी

मछलियों को फिर ठेकेदारों और परचूनी व्यापारियों के हवाले कर देते हैं।

वस्तुत: आन्ध्र प्रदेश के सभी मछुआरों की जातियाँ हिन्दू धर्माव-लम्बी हैं। लेकिन ग्राम–देवताओं और वंशानुगत-देवताओं के प्रति विशेष भक्ति-भावना रखते हैं। कभी कभार तिरुपति, गन्नवरम आदि हिन्दू पुण्य-क्षेत्रों के दर्शन भी करते हैं, फिर भी हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं का प्रभाव बहुत कम ही माना जा सकता है। अलग-अलग गाँवों के लिये भिन्न-भिन्न ग्राम देवता होते हैं और साथ ही प्रत्येक वंश के अपने अलग 'कुल-देवता' होते हैं। मछुए स्त्री-देवताओं के उपासक हैं, जिन्हें 'अम्मोरु' कहते हैं। उनका विश्वास है कि स्त्री–देवतायें ही दुष्ट शक्तियों, बीमारियों और प्राकृतिक विभीषिकाओं जैसे कि आंधी और तूफान, ज्वारभाटों से बचाती हैं।

यहाँ के मछुओं के गाँवों में दो प्रकार के पुरोहित रहते हैं। पहले को 'दासुडु' कहते हैं जो ग्राम देवता का पुरोहित है और दूसरे को 'भक्तुडु' कहते हैं जो एक ही वंश का पुरोहित है। एक गाँव में चार या छे वंशज मछुए रहते हैं, प्रत्येक वंश केलिए अपना-अपना पुरोहित रहता है। 'दासुडु' सारे गाँव की भलाई के लिये 'कुल देवता' की पूजा करता है। जालारी-पालेम नामक एक गांव की देवियों के नाम इस प्रकार हैं : 'पोलेरम्मा, दुर्गम्मा, पैडितल्लम्मा और भूलोकम्मा'। उक्त देवियों में पहली देवी 'पोलेरम्मा' को गाँव की मुख्य देवी मानी जाती है। बाकी तीनों देवियों को वंशानुगत देवियाँ या कुल देवतायें कही जाती हैं। त्यौहार और उत्सव के समय सभी देवियों को गाँव के सब वंशज बिना किसी भेदभाव के भक्ति एवं श्रद्धायें अर्पित करते हैं। इस तरह गाँव के मछुए सम्पूर्ण एकात्मकता की भावना से बन्धे रहते हैं। मई महीने में ग्राम-देवताओं का त्योहार मनाया जाता है। यह त्योहार तीन या चार दिन तक मनाते हैं और अन्तिम दिन बकरों और मुर्गों की बलि चढ़ाते हैं।

मछली मारना मछुओं के नियन्त्रित जीवन का एकमात्र आदर्श और आधार है। इस आशय सिद्धि के लिये वे सब मिलजुलकर संगठित संघर्ष चलाते हैं। प्राप्त सम्पत्ति को बराबर बाँट लेते हैं। इस प्रकार उनकी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में सम्पूर्ण सामूहिक व्यक्तित्व मुखरित हो जाता है।

10

आंध्र प्रदेश के आदिवासियों का जीवन-संघर्ष (1)

यदि हम विश्व-इतिहास के पन्ने पलटें तो यह जानने में कठिनाई न होगी कि हर सदी में और हर देश में शक्तिशाली तथा अभिजात वर्ग ने अशिक्षित एवं कमजोर जातियों को कितनी बेरहमी के साथ अपने पैरों तले रौंद डाला है। निर्बल-वर्ग के भोलेपन तथा असमर्थता को आधार बनाकर अभिजात-वर्ग अपनी कुटिल राजनीति एवं आधुनिक अस्त्रों के जरिए अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक उन्नति करता आ रहा है। सदियों की यह पुरानी प्रथा कब और कैसे मिटेगी, कहना मुश्किल है।

भारत में चार करोड़ से अधिक आदिवासी हैं। बहुत से लोग सभ्य-समाज से दूर बीहड़ जंगलों में, तटवर्ती प्रदेशों तथा पर्वत-शिखरों पर पशुओं से भी गई बीती जिन्दगी बिता रहे हैं। इनमें कुछ घुमक्कड़ जातियाँ भी हैं, बस पेट भर लेना ही उनका मुख्य लक्ष्य है। इन आदिम जातियों के संस्कृति, रीति-रिवाज एवं सुख-दुख के प्रति अवहेलना की दृष्टि के सिवा कभी भी उन्हें सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयास तथा-कथित सभ्य समाज की तरफ से किया नहीं गया। इस दिशा में जो लोग बढे हैं, विदेशी मिशनरियाँ, साहूकार, दलाल, राजनीतिज्ञ आदि। उनमें अधिकांश ने अपनी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये ही इनसे सम्पर्क स्थापित किया है। इन दुमुंहों के दखल देने के कारण इन जातियों में आपस में ही फूट, जमीन-जायदाद तथा साधन-सम्पत्ति की लूट-पाट बेरोक होती रही है।

दक्षिण भारत की आदिम जातियों का जीवन-स्तर अन्य प्रदेशों की आदिम जातियों से बहुत गिरा हुआ है। ये अधिक निर्धन, मलेरिया आदि व्याधियों से पीडित और अपनी प्रगति के प्रति अनासक्त भी है। दक्षिण के अन्य राज्यों की अपेक्षा आंध्र प्रदेश में आदिवासियों की संख्या अधिक है।

आंध्र प्रदेश की आदिम जातियाँ जंगलों, पर्वतों के अलावा मैदानों में भी बसी हुई हैं। मैदानों में निवास करने वाले अधिकांश आदिवासी घुमक्कड़ हैं। इनके पास न जमीन है और न घर-बार। यातायात के साधन के रूप में ये गधे, गाय आदि का प्रयोग करते हैं। किसी गाँव या शहर के बाहर पड़ाव डालकर थोड़े दिन ठहर जाते हैं। किसी चौरास्ते पर बैठकर जादू-टोने के खेल दिखाना, जड़ी-बूटी बेचना, हाथ देखना तथा ज्योतिष बतलाना इनके मुख्य व्यवसाय हैं।

आंध्र प्रदेश की कुल आबादी का 4.6 प्रतिशत आदिवासी हैं, जिनकी संख्या पन्द्रह लाख है। गोण्ड, कोया, कोण्डरेड्डी, सवरा, बगता, जातापू, वाल्मीकि, ऐरुकल, यानादि आदि जातियाँ अधिक संख्या में हैं तथा राना, कट्टुनायकर, भिल्लु आदि की संख्या कम है।

आंध्र प्रदेश में आदिवासी आन्दोलन मूलतः चार जिलों में केन्द्रित है। ये जिले हैं : श्रीकाकुलम, विशाखापट्टनम, पूर्व गोदावरी तथा पश्चिम गोदावरी। इधर जमींदार तथा सरकार के खिलाफ आदिवासी कई बार जमकर संघर्ष कर चुके हैं, जिनमें चार उल्लेखनीय हैं।

सन 1766 में निजाम नवाब ने 'रम्पा' प्रान्त के साथ-साथ उसके आसपास के प्रांतों को भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों सौंप दिया था। लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्त तक ईस्ट इण्डिया कंम्पनी ने इस क्षेत्र से कोई निश्चित भूमि कर वसूल नहीं किया। अंग्रेजों की अनुमति से रम्पा प्रांत रामभूपति नामक एक जमींदार के अधीन रहा। रामभूपति ने रम्पा के आस पास के कुछ गाँवों को, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन थे, 1803 में अपने अधिकार में ले लिया। इसको लेकर कम्पनी और रामभूपति के बीच संघर्ष हुआ। लेकिन थोड़े ही दिनों में अंग्रेजों ने उन प्रान्तों को वापस लेकर ब्रिटिश शक्ति का परिचय दिया। आखिर सन 1813 में दोनों पक्षों ने एक निर्णय के अनुसार उस आतन्कित आदिवासी क्षेत्र में शान्ति स्थापना का उत्तरदायित्व रामभूपति के सुपुर्द कर दिया। उसके बदले में रम्पा से सम्बन्धित गाँवों का सम्पूर्ण अधिकार रामभूपति के अधीन कर दिया।

रामभूपति ने सालाना 8,750 रुपये भुगतान पर इन गाँवों को एक-एक मुखिये के अधीन कर दिया। रामभूपति के बाद उसकी जमींदारी

उसके अवैध पुत्र के अधीन हो गई। ग्राम मुखियों ने इस अवैध पुत्र के अधिकार को सिर्फ एक हजार रुपये सालाना वसूल करने तक ही सीमित कर दिया। लेकिन कुछ समय बाद इस नये जमींदार ने उक्त निर्णय को ठुकरा दिया और अनुचित कर वसूलने की कोशिश की, जिसे मुखियों ने नामन्जूर कर दिया। जमींदार ने दूसरी तरकीब ढूंढ निकाली। राजमण्ड्री कोर्ट की अनुमति लेकर वह पुलिस के सहारे आदिवासियों से अनुचित कर वसूलने लगा। पाँच रुपये कर के बदले में सौ रुपये मूल्य वाले पशु तथा अन्य चीजों को बलपूर्वक हथियाने लगा। आखिर विवश होकर आदिवासियों को उसके खिलाफ विद्रोह करना पड़ा।

मार्च 1879 को तम्मनदोरा के नेतृत्व में बोदुलुरू (पूर्व गोदावरी) के समीप विस्फोट हुआ। आदिवासियों ने पुलिस के छे सिपाहियों को पकड़कर बहुत दिनों तक बन्दी बनाकर रखा। आखिर उन्हें कोडिगण्डि गाँव के पास ले गये और इमली के पेड़ से बाँधकर दो सौ आदिवासियों के सामने एक समारोह में उन्हें अपने इष्ट देवताओं को बलि चढ़ा दिया। फिर वे लोग चोड़वरम पुलिस थाने पर टूट पड़े और अड्डुतीगला पुलिस थाने को जला दिया। तुरन्त रम्पा राज्य विद्रोह की ज्वालाओं में धधकने लगा। यह आतंक विशाखापट्टनम जिला से सम्बन्धित गोलुगोंडा तथा रेकपल्ली तक फैल गया। विद्रोह का परिणाम तुरन्त निकला। मद्रास सरकार ने 6 रेजीमेंट पदाति सेना, एक टुकड़ी घुड़सवार और दो कम्पनियाँ सेप्पर्स तथा इसके अलावा सैंकड़ों की संख्या में इस क्षेत्र में पुलिस तैनात कर दी। इस सशस्त्र सरकारी सेना के मुकाबले में अपने तीर तथा भालों के सहारे आदिवासी 1880 के अन्त तक लड़ते रहे।

उन दिनों अंग्रेजी शासक आदिवासियों के प्रति जानवरों से बदत्तर व्यावहार किया करते थे। फारेस्ट अफसर और पुलिस अधिकारी बिना पैसा चुकाये आदिवासियों से मुर्गी, घी, दूध, केले आदि वन्य पदार्थ धमकी देकर छीन लेते थे। सरकारी अफसरों को जंगलों में डोलियों में बिठाकर ढोना पड़ता था। किराये के बदले में आदिवासियों को जूतों से मार और गालियाँ सुननी पड़ती थीं। ऐसी स्थिति में अल्लूरि सीतारामराजु ने आदिवासियों को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने के लिये अपने आप को न्यौछावर कर दिया। इनकी बहादुरी सम्पूर्ण दक्षिण में गूंज उठी।

अल्लूरि सीतारामराजु एक सजग, पढ़े-लिखे क्षत्रिय युवक थे जिन्होंने अपनी युवावस्था में ही सन्त बनने का निश्चय कर लिया था और इसी उद्देश्य से अपना निवास स्थान पाड्रेंकि (जिला विशाखपट्टनम) छोड़कर ब्रह्मकपाल तक पैदल यात्रा की थी। फिर घर लौटकर निकटवर्ती आदि-वासी प्रांत पहुँचे। वहाँ के आदिवासियों की दयनीय स्थिति देख वह उनके उद्धार के कार्य में जुट गये और उन्हीं लोगों के साथ रहने लगे।

इसी समय बास्टियन नामक एक तहसीलदार की नियुक्ति चिन्त-पल्ली (जिला विशाखापट्टनम) में हुई थी। वह बड़े दुष्ट स्वभाव का आदमी था। सरकार ने नर्सीपटनम से लम्बसिंगि तक घाट रोड बनाने के लिये पैसा मंजूर किया था। लेकिन ठेकेदार औरे तहसीलदार मजदूरी के पैसे खा जाते थे और आदिवासियों से बेगारी करवाते थे। यदि कोई बेगारी करने से इनकार करता तो बास्टियन उसे अपने घर बुलवाकर एक पेड़ से बाँध देता था और गुप्तांगों में मिर्च-चूरन ठूसकर चाबुक से पीटता था। इतना ही नहीं, बास्टियन जिस आदिवासी औरत को चाहता, उसे पकड़वाकर बलात्कार करता था।

राजु विवश होकर बास्टियन के क्रूर-कृत्यों के बारे में सरकार से बार बार शिकायत करने लगे। इसका नतीजा उल्टा यह हुआ कि सरकार बास्टियन को दण्ड देने के बजाय राजु को सन्देहास्पद व्यक्ति के रूप में देखने लगी। राजु स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये शांतिपूर्वक आन्दोलन चलाना चाहते थे। लेकिन अंग्रेज शासक इसका पूरा लाभ उठाकर आदिवासियों के प्रति पहले से बदत्तर अमानवीय व्यवहार करने लगे। ऐसी हालत में साधु-स्वभावी राजु को सशस्त्र क्रांति के सिवा और कोई रास्ता न मिला। हजारों की संख्या में आदिवासी सेना का निर्माण किया गया और अंग्रेजों को आदिवासी प्रांतों से भगा देने का निर्णय कर लिया गया।

दीर्घकाल तक अंग्रेजों से लड़ने के लिये हथियारों की सख्त जरूरत थी। इसकी पूर्ति के लिये लगातार तीन दिन 22 से 24 अगस्त 1922 तक तीन पुलिस थानों चिन्तपल्ली, कृष्णदेविपेटा और राजवोम्मंगि जो विशाखापट्टनम जिले के अन्तर्गत हैं, पर आक्रमण किया गया। इन तीनों पुलिस थानों की लूट में क्रांतिकारी सेना को 26 बन्दूकें, बड़ी तादाद में गोला-बारूद, छुरियाँ आदि प्राप्त हुई।

लगातार तीन दिन तीन पुलिस थानों के पिटने से सरकार ने सुरक्षा

का कड़ा बन्दोबस्त कर दिया। आदिवासी क्षेत्र में हर थाने पर एक–एक अधिकारी और चालीस-पच्चास सैनिकों का पहरा रखा गया। चौबीस सितम्बर को रसद के लिये क्रांतिकारी सैनिकों के दमनपल्ली पहुँचने की खबर सरकारी अधिकारियों के कानों में पड़ी। तुरन्त क्रिस्टाफर्ड विलियम स्काट कवर्ड और लयनल नैविल्ली हाइटर नामक दो असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्ड दमनपल्ली की तरफ सेना ले निकल पड़े।

दोपहर का समय था। पगडण्डी के दोनों तरफ घना जंगल। अंग्रेजी सेना चार मील तक पैदल चली आई। क्रांतिकारी सेना के पास पहुँचने का फासला और दो मील बाकी था। इनकी हरकतों पर राजु के तीन अनुचर गण्टमदोरा, मल्लुदोरा और गोक्रिरे एर्रेसु पिस्तौल लिये मौके की प्रतीक्षा में नजर रखे हुये थे। सरकारी सेना थोड़ा और आगे आई। दोनों अंग्रेज सेनापति अपने पीछे भारतीय सैनिकों का, जो हाथों में बन्दूकें थामे चुपचाप चल रहे थे, नेतृत्व कर रहे थे। अचानक घाटियाँ गूंज उठीं और दोनो सेनापति जमीन पर ढ़ेर हो गये। इन दोनों के साथ दो सिपाही भी मारे गये। इस आकस्मिक घटना से सरकारी सेना मृत-सेनापतियों को छोड़कर भाग खड़ी हुई।

अंग्रेज सरकार के विरुद्ध किये गये इन विद्रोहों के फलस्वरूप आदिवासियों पर अंग्रेज सेना का दबाव बढ़ता गया। जनता में क्रांति के प्रति उत्साह मन्द पड़ने लगा। इन लड़ाइयों में राजु के बहुत से साथी मारे गये। जनता में आतंक छा गया। इन सभी परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर सीतारामराजु ने क्रांति को अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया।

अचानक सात मई, 1924 के 'हिन्दू' दैनिक पत्र में यह समाचार छपा कि सीतारामराजु जीवित पकड़े गये हैं। राजु को अदालत में पेश किये बिना ही अन्यायपूर्वक एक पेड़ से बाँधकर मेजर गूडाल ने पिस्तौल छाती पर रख गोली मार दी। इस प्रकार राजु ने सत्ताईस वर्ष की अल्प आयु में ही आदिवासियों के अधिकारों के लिये अपने प्राण त्याग दिये। राजु के मरणोपरांत भी क्रांतिकारी नेताओं ने कुछ समय तक यह लड़ाई जारी रखी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी इन आदिवासियों के आर्थिक व सामाजिक जीवन में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हो पाया। साहूकारों

तथा महाजनों ने इन भोले-भाले आदिवासियों की हजारों एकड़ जमीन मनमाने ढंग से हड़प ली। परिणाम स्वरूप सन 1970 के आसपास इन आदिवासी क्षेत्रों में नक्सलवादी आन्दोलन शुरू हुआ था। नकसलवादी विद्रोह की व्यापकता तथा प्रभाव की दृष्टि से पश्चिम बंगाल के बाद आंध्र प्रदेश उल्लेखनीय है। नकसलवादियों के निर्मम कृत्य आंध्र प्रदेश में तीन साल से ऊपर बेरोकटोक चले, जिसको आश्रय तथा प्रोत्साहन श्रीकाकुलम आदिवासियों द्वारा ही मिला। आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम जिले में जो उड़ीसा के उत्तरी भाग की सरहद का पहाड़ी प्रदेश है जातापु, सवरा आदि आदिवासी जातियाँ बसी हुई हैं।

श्रीकाकुलम में नकसलवाद को बढ़ाने में वेंपटापु सत्यनारायण का बड़ा हाथ रहा था। वह वहाँ की एक प्राथमिक पाठशाला के अध्यापक थे। एक साधारण स्कूल अध्यापक होते हुये भी वह आदिवासियों के अत्यन्त लोकप्रिय नेता साबित हुये। उन्होंने पिछले दस साल से आदिवासियों के लिये काफी काम किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा। फिर भी सत्यनारायण ने आदिवासियों का नेतृत्व नहीं छोड़ा। इतना ही नहीं, वह आदिवासी न होते हुए भी दो आदिवासी कन्याओं को उन्होंने शादी की।

नकसलवाद के नेताओं ने अपने आन्दोलन को चारों तरफ फैलाने के उद्देश्य से श्रीकाकुलम को प्रधान अड्डे के रूप में चुना। इस स्थान पर मोर्चा बनाना कई दृष्टियों से समुचित भी था। बीहड़ जंगल, बड़ी-बड़ी चट्टानों से भरपूर पहाड़, आदिवासियों का पूर्ण सहयोग, दो राज्यों का सरहदी प्रदेश आदि इन नकसलवादियों को बहुत अनुकूल सिद्ध हुये।

नकसलवादी नेताओं की दृष्टि वेंपटापु सत्यनारायण पर पड़ी। दोनों पक्षों के बीच समझौता हुआ कि साहूकारों तथा जमींदारों की हत्या कर आदिवासियों की जमीन लौटाना और लूट में प्राप्त धन-दौलत को इन गरीब आदिवासियों में बांटना उनका कार्य होगा। तभी से उग्रवादी कम्युनिस्टों ने माओ, मार्क्स तथा लेनिन के सिद्धान्तों का जोरों से प्रचार किया। सिर्फ दस पैसे के शुल्क पर हजारों आदिवासियों को नकसवादी दल का सदस्य बना लिया गया। इन उग्रवादियों ने आठ हजार गुरिल्ला सैनिकों को तैयार किया, जिन्हें सुविधा के अनुसार एक सौ टुकड़ियों में

विभाजित किया गया था। इन लोगों ने पैंतीस सौ सशस्त्र पुलिस तथा सी. आर. पी. से श्रीकाकुलम जिले के छे ताल्लुकों : पार्वत्तीपुरम, पातपट्टनम, पालकोंडा, सोमपेट, टेक्कलि तथा इच्छापुरम में घमासान मोर्चा लिया था।

इस नकसलवादी विद्रोह के छिड़ने के उपरान्त सरकार ने सारी स्थिति पर गम्भीरता से विचार किया और कुछ सुधार कार्यक्रम चालू किये। आदिवासी सहकारी समिति को जिसे पन्द्रह वर्ष पूर्व स्थापित किया गया था, सरकार अधिक से अधिक अनुदान प्रदान कर उसके द्वारा आदिवासी कुटीरों का निर्माण, वन्य पदार्थों को सही मूल्य पर आदिवासियों से खरीद लेना, जमीन सुधारने तथा फसल उगाने के लिये कम ब्याज पर कर्ज देना आदि आर्थिक सुविधायें पहुँचा रही है। इसी सिलसिले में सरकार ने और एक कदम उठाया है। उसने आदिवासियों से अनुचित ढंग से हड़प ली गई जमीन को जमींदारों से वापस लौटाने की चेष्टा की और लगभग चार हज़ार एकड़ भूमि आदिवासियों में बाँट दी गई।

अभी तक आदिवासियों का एक प्रमुख व्यवसाय जगल से लकड़ी लाकर बाजार में बेचना मात्र रहा है। पर इधर सरकार ने इन क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने और आर्थिक गतिविधियाँ बढ़ाने की ओर कदम बढ़ाया है। सन 1972 में 'गिरिजन विकास समिति' का गठन किया गया। रिजर्व बैंक ने इस समिति को विशेष ऋण भी दिया है। इस अल्प-काल में ही समिति ने काफी प्रभावशाली ढंग से कार्य किया है।

समिति ने सबसे पहला काम गिरिजनों को साहूकारों के चंगुल से छुड़वाने का किया है। इस क्षेत्र में स्थापित सरकारी डिपो आदिवासियों से हर तरह की चीजें—अड्डा की पत्तियाँ, इमली, जलाने की लकड़ी, जड़ी-बूटियाँ लाल चना और सरसों आदि खरीद लेते हैं और बदले में वह जो चाहें इन डिपुओं से खरीद सकते हैं। जमीन के मामलों और कृषि में सुधार के लिये जो 'पुनर्गठित केंद्र' कार्य कर रहे थे, उन को सुधारने का कार्य भी समिति ने किया है। जहाँ-जहाँ जमीन उपलब्ध है उसे सरकार ने ले लिया है और वहाँ ऐसे केंद्र बनाए गए हैं। इस भूमि पर गिरिजनों को बसाया गया है। इन केंद्रों में आदिवासीयों को आधुनिक तरीकों से खेती करना और विकसित विधियों से परिचित कराय जाता है। पर सिर्फ़ खेती

से ही आदिवासियों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति को नहीं सुधारा जा सकता। गिरिजन विकास समिति इस बारे में सजग है। समिति इस क्षेत्र में पटसन का कारखाना और दुग्ध डेयरी संयंत्र आदि लगाने जा रही है। इसके अतिरिक्त अन्य छोटे उद्योगों को जिनका कच्चा माल भी इस क्षेत्र में उपलब्ध हो, लगाने पर विचार हो रहा है। हर उद्योग के साथ निवास की आधुनिक सुविधा, स्कूल और अस्पताल भी होंगे। ये कदम धीरे-धीरे आदिवासियों को आधुनिक समाज में अपना उचित स्थान दिलाने और वास्तविक अर्थों में आगे बढ़ाने में सहायक होंगे।

इन आदिवासी आन्दोलनों के लिये बाहर के लोग कितने ही जिम्मेदार हों, पर आन्दोलन का मूल कारण आदिवासियों में व्याप्त असन्तोष ही है। यदि हम आदिवासी प्रदेशों में जाकर उन्हें नजदीक से देखें तो पता चलेगा कि वे कितने पियक्कड़ तथा आलसी हैं। एक आदिवासी की कार्य क्षमता एक साधारण मजदूर की एक तिहाई मात्र है। जिस काम को करने के लिये चार गैर आदिवासी मजदूर काफी होंगे वहाँ इसके लिये बारह आदिवासी मजदूरों की जरूरत पड़ती है। ये लोग अपनी स्थिति को समझने में तो असमर्थ हैं ही बल्कि आधुनिक सभ्य-समाज के अन्धानुकरण करने में अपने आपको ऊँचा समझते हैं। इसी होड़ में जो कुछ पैसा हाथ में आ जाता है, उसे झट से अच्छी पोशाक खरीदने तथा दो चार दिन शहर में घूमने के लिये खर्च कर देते हैं। फिर यथावत साहूकारों के पास पहुँच जाते हैं।

वास्तव में आदिवासियों में परिवर्तन लाना चाहें तो बाहर के शोषण को समाप्त करने साथ-साथ उन लोगों में आन्तरिक-चेतना लाने की भी आवश्यकता है। अतः इन लोगों के कल्याण के लिये आर्थिक-सहायता के साथ सभ्य-समाज में घुलने-मिलने तथा अपनी उन्नति के प्रति आकर्षित करने के लिये बड़ी संजीदगी से सरकार को काम करना होगा तथा आन्दोलन का यह सिलसिला तभी समाप्त हो सकेगा।

11

आंध्र प्रदेश के आदिवासियों का जीवन-संघर्ष (2)

आदिवासी गाँव पहुँचने के लिये मैंने अपने एक मित्र को साथ ले कर श्रीकाकुलम से बस पकड़ी। श्रीकाकुलम आंध्र प्रदेश का सबसे पिछड़ा हुआ जिला है। इसकी सरहद उड़ीसा के साथ लगती है। इस जिले के दस प्रतिशत से अधिक लोग आदिवासी हैं। ये लोग अधिकतर पहाड़ी प्रांतों और बीहड़ जंगलों में बसे हुये हैं। यहाँ पर दो मुख्य आदिम जातियाँ पाई जाती हैं : सवरा और बगता।

रास्ते में कई आदिवासी स्त्री-पुरुष नजर आये, जो अधनंगे थे और कपड़े के नाम पर उनके तन पर चिथड़े ही लटक रहे थे। कन्धों पर लकड़ी की कांवरियाँ, झाड़ुओं के गट्ठे आदि लिये जा रहे थे। उनमें कुछ औरतें छोटे-छोटे बच्चों को कपड़े से छाती पर चिपकाये, सर पर भारी टोकरियाँ लिये, चल रही थीं। उनके मासूम चेहरे देखते ही यहाँ के आदिवासियों के विगत जीवन के भी कई ऐतिहासिक तथ्य मेरे मानस-पटल पर नाचने लगे।

कहा जाता है सवरा सब से प्राचीन आदिम जाति है। कालान्तर में यही जाति शाखाओं-उपशाखाओं में विभाजित होकर भारत तथा विदेशों में फैल गयी। आर्य और द्राविड़ों ने इस जाति को मैदानों से जंगलों और पहाड़ी क्षेत्रों में भगा दिया। एक पौराणिक गाथा भी है कि जब श्रीराम लक्ष्मण के साथ सीता की खोज में जंगलों में भटक रहे थे, तब एक सवरा स्त्री ने, जो शबरी नाम से प्रसिद्ध है, उन्हें भक्तिपूर्वक फल समर्पित किये थे।

इतिहास के अनुसार इसी जगह पर लगभग 255-56 ईसा–पूर्व सम्राट अशोक के मुकाबले में कलिंग के वीरों ने अपने अन्तिम रक्त-बिन्दु तक लड़ाई की थी। अशोक ने स्वयं अपने तेरहवें शिला-लेख में इसका उल्लेख

किया है। इस युद्ध में एक लाख व्यक्ति मारे गये थे, और डेढ़ लाख बेघर हो गये थे। इस महायुद्ध में सवरों ने कलिंगों के पक्ष में लड़ाई की थी। आज भी यहाँ पर कालिंग क्षत्रिय मौजूद हैं और अन्य जातियों से आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से आगे हैं। आदिवासियों के शोषक वर्ग में ये प्रमुख माने जाते हैं। नकसलवादी आन्दोलन के समय इस जाति के कई जमींदार मारे गये।

बगल में बैठे मित्र मेरे कन्धे पर हाथ रखकर उंगली से बाहर इशारा करते हुये बोले: "यह सारी जमीन तीन साल पहले घना जंगल था। जंगली जानवरों के कारण लोग इधर से गुजरते हुये डरते थे। नकसलवादी आन्दोलन छिड़ने के बाद सरकार ने इस सारी जमीन को आदिवासियों में बाँट दिया है। अब ये ही लोग यहाँ खेती करने लगे हैं।"

दूर-दूर तक फसल-कटे खेतों का मैदान दिखाई पड़ता है। कहीं–कहीं किसान ढेकली खींचते हुए नजर आ रहे हैं। इसके साथ तिल की फसल और बीज के लिये सुरक्षित गन्ने के टुकड़े दिखाई दे रहे हैं। खेत में कहीं-कहीं ऊंची चट्टान और टीले भी खडे हैं।

हमदोनों बस से उतर कर आदिवासी गांवों की तरफ बढ़ने लगे। बंसुगाँव, रामरायि, लोगांव, कारिबन्द आदि यहां के कुछ गाँव हैं। किसी भी गाँव में 20-25 से ज्यादा झोपड़ियाँ नहीं हैं, और वे भी अव्यवस्थित। इनकी झोपड़ियाँ करीब बारह फुट की लम्बाई, छे फुट की चौड़ाई तथा आठ फुट की ऊंचाई की होती हैं। झोपड़ी में जाने के लिये थोड़ा झुकना पड़ता है। झोपड़ियों के सामने कहीं-कहीं मरियल गायें और भैंसे बन्धी रहती हैं।

अपना पेट पालने के लिये आदिवासी ज्यादातर जंगल पर निर्भर रहते हैं। मुख्यत: लकड़ी, इमली, शिकाकाय, महुआ बीज, शहद, अड्डा की पत्तियाँ आदि बेचकर अपनी जीविका चलाते हैं। इसके अलावा कुछ लोग जंगल काटकर फसल भी उगा लेते हैं। फिर भी ये साधन भरपूर अन्न नहीं दे पाते। इन्हें मैदानों में जाकर जमींदारों के खेतों में मजदूरी करनी पड़ती है। पुरुष को तीन रुपये और औरत को पौने दो रुपये रोजाना मजदूरी मिलती है। काम भी साल भर नहीं मिल पाता। इसी वजह से ये लोग अधिकतर ताड़ या शराब पीकर सुस्ताने लगते हैं। अन्न के अभाव

में आम के गुठले और इमली के बीज पीसकर, माँड बनाकर पीते हैं और कुछ कन्द–मूल आदि खा लेते हैं। इस वजह से इनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

इनके अन्धविश्वास इन्हें आगे पनपने नही देते। किसी गाँव में दो-चार लोग मर जाते हैं तो भूत-प्रेतों के डर से सब के सब घर बार छोड़ कर दूसरी जगह नया गाँव बसाने लगते। इस कारण फिर व्यर्थ ही जंगल काटने, घर बसाने, अन्न की खोज आदि में सारी शक्ति और समय नष्ट हो जाता है।

फसल की पैदावार उसी साल खर्च करना भी उनका रिवाज है। अगर किसी साल जरूरत से ज्यादा पैदावार हुई तो भी उसी साल सारा अनाज खर्च कर देते हैं। जब फसल की उपज कम हुई या खराब हुई तो समझ लेते हैं कि कित्तुंगों को ग्रामवासियों पर क्रोध आया है। इसलिये कित्तुंगों को शान्त करने के लिये त्योहार मनाते हैं।

वे थोड़े परिश्रम से ही वन्य-पदार्थों से कई तरह के लघु-उद्योग चला सकते हैं, पर हमेशा सभ्य–समाज से दूर रहने से और पिछड़ेपन के कारण, ये लोग किसी भी पेशे में टिक नहीं पाते और अपने पेशे में पेट पालने लायक भी कमा नहीं सकते। दुर्भाग्यवश इन जंगलों में फसल और पालतू जानवरों को नष्ट करनेवाले बन्दर, बारहसिंगे, भालू, भेड़िये, चीते आदि जंगली जानवर भी ज्यादा हैं।

सरकार ने हाल ही में एक नयी नीति अपनायी, जिसका उद्देश्य आदिवासियों को नकसलवादी नेताओं के चंगुल से निकालना और चालाक साहूकारों व्यापारियों आदि शोषक वर्ग से मुक्त करके उनके आर्थिक और सामाजिक स्तर को बढ़ाना आदि था। इसी उद्देश्य से श्रीकाकुलम जिले की हर पंचायत समिति के अन्तर्गत एक आदिवासी गाँव मैदानों में बसाया गया है, जिसमें चालीस या पच्चास परिवार रह सकते हैं। सरकार प्रत्येक आदिवासी परिवार के लिये ढाई एकड़ जमीन देकर आदिवासी सहकारी समिति द्वारा बैल, बीज, खाद, कृषि-औजार आदि के लिये कम ब्याज पर कर्ज दिला रही है। वन्य-पदार्थों को सही मूल्य पर आदिवासियों से खरीद कर बिक्री की व्यवस्था सरकार स्वयं कर रही है। इसके अलावा आदिवासी

गाँवों में लघु उद्योग—बढ़ईगिरी, शहद की मक्खियों को पालना, कुर्सियाँ बुनना आदि—स्थापित कर आदिवासियों को प्रशिक्षण देने की योजना भी है।

सरकारी आंकड़ों से पता चलता है कि इन लोगों के नाम पर बहुत-सी रकम खर्च हो रही है, पर इनका जीवन देखने पर निराश होना पड़ता है। जंगल में रहनेवाले आदिवासियों और सरकारी गाँवों में निवास करने वाले आदिवासियों की जीवन–पद्धति में जरा-सा भी परिवर्तन महसूस नहीं होता। इसी वजह से कई लोग सरकारी गाँवों से वापस जंगल में जाकर बस रहे हैं। इन सरकारी गाँवों में निवास करने वाली बेकार युवा पीढ़ी को जीविका चलाने के लिये सही रास्ता नहीं दिखाया गया तो कई नयी समस्यायें उत्पन्न होने का डर है।

यहाँ के कुछ लोगों का कहना है कि आदिवासी लोग सरकारी सहायता का दुरुपयोग कर रहे हैं। इनको रियायती दामों पर दिए जाने वाले बीज, कृषि-औजार, खाद आदि ये लोग बाहर की दुकानों पर कम पैसों के लोभ में बेच देते हैं।

हमने आदिवासी गांव में देखा कि एक झोपड़ी को घेरकर कई आदिवासी स्त्री-पुरुष खड़े हुये हैं। हमें देख कर वे लोग घबरा गये, मानो चुगते हुये पक्षियों के बीच में अचानक कोई बड़ा जानवर पहुंच गया हो। उनके मासूम चेहरे पर अंग्रेजों की नृशंसता, पुलिस की गोलियों, साहूकारों और अफसरों के जुल्म के साइन-बोर्ड नजर आते थे। मेरे मित्र ने उन्हें समझाया "यह आप लोगों को देखने आये हैं।" फिर उनके चेहरे 'नार्मल' हो गए। उन लोगों के बीच करीब पैंतालीस बरस का एक आदमी बैठा था। उसके सामने धान का ढेर था। ढेर के ऊपर एक मटका रखा हुआ था। झोपड़ी के पिछवाड़े की तरफ औरतें और आंगन की तरफ मर्द बैठे हुए थे। मुझे कुछ पता नहीं चला कि ये लोग इकट्ठे बैठे बैठे क्या कर रहे हैं? मेरे मित्र ने उनसे पूछा कि यह सब क्या हो रहा है? उन्होंने जवाब दिया: लड़की को देखने लड़का आया हुआ है। बीच में जो धान के ढेर के पास बैठा है, वह 'बोय्या' जो गाँव का मुखिया तथा पुरोहित भी है। बोय्या ही सभी प्रकार की पारम्परिक रस्में पूरी कराता है।

बोय्या को बातचीत के लिए बुलाया गया। उसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। सिर पर एक छोटा सा तौलिया, बदन पर एक मैली बनियान और कमर में एक फटी पुरानी धोती थी। वह तेलुगु भी जानता था, पर अपने मित्र की सहायता के बिना काम नहीं चल सका। इस बात–चीत के दौरान यहाँ के आदिवासियों के आचार-विचार, रहन–सहन के बारे में कई बातें मालूम हुईं।

बोय्या वंश परम्परागत पद है। हर एक गाँव के लिये एक बोय्या रहता हैं। वही शादी, फसल की पूजा, त्योहारों का आयोजन, देवी-देवताओं की और पितृ-पूजा आदि कराता है। झगड़ों का निपटारा करना, जातिगत नीति-नियमों का पालन कराना और अपराधी से दण्ड के रूप में चुंगी वसूलना आदि अधिकार भी बोय्या के हैं।

अपराधियों से वसूले गये पैसों से शराब, ताड़ और माँस आदि खरीदकर गाँव के सभी लोग मिलकर खा–पी लेते हैं और मौज उड़ाते हैं। इसलिये बोय्या और गाँव के लोगों के बीच पैसे के सम्बन्ध में झगड़ा होने का सवाल ही नहीं उठता।

ये लोग मूर्ति पूजा नहीं करते। 'गडे भोजन' (सूरज) उनका मुख्य देवता है। वैसे इनके कई देवता हैं। इनमें भीम, राम, महेंन्द्रगिरि, क़िल्लम्मा, कंचुमायि, क़लुवम्मा आदि के साथ कुछ भूत-प्रेत भी हैं, जिन्हे ये लोग पूजते हैं। इन लोगों में जाति तथा उपजातियों का भेदभाव अधिक है। हर जाति अपनी जाति को सबसे ऊँची समझती हैं।

एक ही गाँव के लड़के-लड़की का आपस में शादी करना और लैंगिक सम्बन्ध रखना अपराध माना जाता है। एक गाँव का लड़का और दूसरे गाँव की लड़की कहीं जंगल में मिल जाते हैं और एक-दूसरे से प्यार करते हैं। लड़का–लड़की आपस में मिल गये तो माँ-बाप के विरोध के वावजूद शादी रचा लेने का पूरा हक और गाँव वालों का सहयोग उन्हें मिल जाता है। पर लड़का-लड़की एक ही जाति के होने चाहियें। शादी के पूर्व भी लैंगिक सम्बन्ध रखना या गर्भवती होना अपराध नहीं माना जाता।

इन लोगों में एक और प्रथा है। यदि कोई लड़का दूसरे गाँव की लड़की से शादी करना चाहे तो वह अपने गाँव वालों को साथ लेकर चोरी–

छिपे उस लड़की को जंगल में अकेली पाकर पकड़ लेता है और उसे एक पेड़ से बाँध देता है। इस बात का पता चलते ही लड़की के गाँव वाले अपने-अपने हथियार लेकर मैंदान में कूद पड़ते है। वे लड़की से पूछते हैं: "क्या लड़का तुम्हें पसन्द है?" यदि वह 'हाँ' बोली तो लड़की लड़के को सौंप देते हैं। 'नहीं' कहे, तो दोनों गाँव वालों के बीच लड़ाई होती है। लड़की वाले समझते हैं कि लड़की को छुड़ाकर अपने साथ रखना उनका हक है और लड़के वाले लड़की को अपने वश कर लेना अपना धर्म समझते हैं। आखिर जो दल जीत जाता है, लड़की उन्हीं की हो जाती है। ऐसी लड़की को ये लोग जिक्करा कोन्या कहते हैं। 'जिक्करा कोन्या' उड़िया शब्द है, जिसका अर्थ है—आकर्षित करने वाली कन्या।

विधवा-विवाह करना इन लोगों में अपराध नहीं है। अक्सर विधवा स्त्री अपने देवर से शादी कर लेती हैं। यदि देवर इच्छुक न हो तो अन्य पुरुष से शादी कर लेने का हक उस औरत को है।

इन लोगों में तलाक देना भी आम बात है। यदि पति-पत्नी के बीच मन-मुटाव हो या उनका दूसरे स्त्री या पुरुष की तरफ आकर्षण हो जाये तो तलाक दे देते हैं। इसकी मान्यता गाँव का बोय्या देता है और अपराध के रूप में चुंगी वसूलता हैं। पहली स्त्री को क्षतिपूर्ति के रूप में पुरुष को कुछ पैसा देना पड़ता है। शादीशुदा औरत या पुरुष का दूसरों से शारीरिक सम्बन्ध रखना घोर अपराध माना जाता है। इसलिये पहले अपने पति या पत्नी को तलाक देकर फिर अपने इच्छुक से शादी करनी पड़ती है।

बोय्या से बातचीत करने के बाद जब उसका फोटो उतारने की बात चली तो वह तुरन्त उठकर झोपड़ी की तरफ भाग गया। हम हैरान थे कि आखिर यह फोटो उतारने की बात से दौड़ क्यों पड़ा? एक मिनट के बाद वह कुरता पहने, सज-धज के साथ, बटन लगाते हुये, खुशी-खुशी वापस उसी रफतार से दौड़ा आता दिखाई दिया।

12

अमर बलिदानी अल्लूरि सीताराम राजु

वह किशोर—अल्लूरि सीतारामराजु—स्कूल के और लड़कों से कुछ अलग किस्म का था। वह अंग्रेजों से चिढ़ता था, जबकि दूसरे लड़के प्राय: अंग्रेजों से डरते थे। फिर भी जब जार्ज पन्चम के राजतिलक के उपलक्ष्य में स्कूल में नाटक खेला गया, उस किशोर ने उसमें भाग लिया और उत्तम अभिनय के लिये तमगा भी प्राप्त किया। इस तमगे को वह अपने कोट पर लगाया करता था। किसी सहपाठी ने उसे ताना दिया 'तुम अंग्रेजों के द्वेषी बनते हो और उनका दिया हुआ तमगा कोट पर टांककर फिरते हो, यह कैसी बात है!' उस किशोर ने फौरन उत्तर दिया—'इसे मैंने अपने कोट पर इसलिये टाँक रखा है कि अंग्रेज हमारे सीने पर सवार हैं, यह बात मुझे हरदम याद रहे।' और यह महज हाजिरजवाबी नहीं थी। आगे चलकर उसने अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह किया और गोरिल्ला युद्ध द्वारा सन 1922 से 1924 तक अंग्रेजों की नाक में दम किये रखा।

सीतारामराजु का जन्म एक शिक्षित परिवार में 4 जुलाई 1897 को आंध्र प्रदेश के विशाखापट्टनम जिले के पाड्रेंकि गाँव में हुआ था। पिता अल्लूरि वेंकटरामराजु पेशे से फोटोग्राफर थे और स्वभाव के देशभक्त। वे चुपके से राजमहेंद्री सेन्ट्रल जेल चले जाते और वहाँ पर कैद देशभक्तों के फोटो उतार कर पत्र-पत्रिकाओं में छपवाते थे।

सीतारामराजु का बाल्य-जीवन तकलीफों में गुजरा। जब वे दस साल के थे पिताजी की मृत्यु हो गई, जिसके बाद वे कुछ समय अपने चाचा श्री रामकृष्णमराजु के पास रहे। वे जिद्दी और नटखट लड़के थे, पढ़ाई पर ध्यान नहीं देते थे। उनका झुकाव घुड़सवारी, योगाभ्यास, नाटक आदि की ओर था। मगर थे मेधावी; अंग्रेजी और हिन्दी पर अच्छा अधिकार पा लिया।

राजु स्वतंत्र जीवन जीना चाहते थे। एक दिन अचानक ही घर से भाग निकले और काशी पहुँचे। काशी से वे हरिद्वार गये और वहाँ से ब्रह्मकपाल तक दो सौ मील का पर्यटन किया। तब उनकी उम्र 18 की थी। शायद इसी यात्रा में उन्हें हिन्दी सीखने का मौका मिला। कुछ लोगों का कहना है कि इस यात्रा के दौरान उत्तर भारत के कुछ क्रांतिकारी नेताओं से उनकी भेंट हुई थी और उन्हीं लोगों की प्रेरणा से उन्होंने आंध्र लौटकर अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह किया। लेकिन इसका कोई सबूत हमें नहीं मिलता। वास्तव में उनके मन में योगी बनने की इच्छा थी। उसी भावना को लेकर उन्होंने ब्रह्मकपाल तक पर्यटन किया था।

गोदावरी नदी के पास पापिपर्वत नामक पहाड़ हैं। उनके नजदीक मन्यम् जंगलों में 'कोया' नामक आदिवासी छोटे-छोटे गाँव बसाकर रहा करते थे। उत्तर भारत से लौटने के बाद एक बार राजु घूमते-घामते मन्यम् पहुँचे। उनके लम्बे बाल और दाढ़ी देखकर आदिवासियों ने उन्हें कोई सन्त समझा और उनका बड़ा आदर किया। राजु को भी उन निर्मल हृदय आदिवासियों से स्नेह हो गया।

उन दिनों सरकारी अफसर मन्यम के आदिवासियों के साथ जानवरों से बदतर व्यवहार किया करते थे। जंगलात अफसर और पुलिस अधिकारी बिना पैसा चुकाये उनसे मुर्गी, घी, दूध और केले आदि वसूल कर लेते, जंगल में आग लगने पर उसे बुझाने उन्हें घसीट ले जाते। मजदूर अफसरों को डोलियों में ढोह कर ले जाते, मजदूरी माँगने पर जूतों से उनकी पिटाई की जाती थी।

उस समय गाँधीजी के नेतृत्व में भारत भर में विमुक्ति-आन्दोलन जोरों से चल रहा था। राजु पर भी सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। उन्होंने आदिवासियों की दयनीय स्थिति से विक्षुब्ध होकर मन्यम प्रदेश में असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने आदिवासियों को समझा दिया कि रोजगार लिये बगैर जंगलों में आग बुझाने का काम न करें, पुलिस और जंगलात अफसरों से न डरें। आगे राजु ने मद्य-निषेध का आदेश दिया और पंचायत न्यायालयों की स्थापना की। राजु के उपदेशों को मन्यम की सारी जनता श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य करती थी। इस तरह कोत्कोंडा ताल्लुक के तीस-चालीस गाँवों पर राजु का पूरा अधिकार था।

इन सब बातों से सरकारी अधिकारी जल-भुन गये। राजु के कड़े आदेशों के कारण अबाव वे पहले की तरह मासूम जनता को लूटने में असमर्थ थे। शराब और ताड़ी के व्यापारी तबाह हो गये। दो आने देकर दिन-भर मेहनत कराने वाले ठेकेदार अब डरने लगे। मन्यम् के आदिवासी भी नयी परिस्थिति को समझ गये और राजु के आदेश पर मर-मिटने को भी तैयार हो गये।

इसी समय चितपल्ली ताल्लुके में बास्टियन नामक तहसीलदार की नियुक्ति हुई। वह बड़ा दुष्ट आदमी था। सरकार ने मन्यम् के घने जंगलों में और पुलिस पहुंचाने के लिये नरसीपट्टनम् से लंबसिंगि तक पहाड़ी रास्ता बनाने के लिये पैसा मंजूर किया था। लेकिन ठेकेदार आदिवासियों से बेगार करवाते थे और इसमें उन्हें तहसीलदार बास्टियन से पूरी मदद मिलती थी। यदि कोई बेगार करने से इन्कार करे, तो बास्टियन उसे पकड़वाकर अपने घर मंगवाता और पेड़ से बंधवाकर और मर्मांगों में मिर्च की बुकनी ठूंसकर चाबुक से बुरी तरह पीटता। इतना ही नहीं, जो भी आदिवासी औरत उसे भा जाये, उसकी अस्मत नहीं बचती थी।

राजु ने बास्टियन के क्रूर कृत्यों के बारे में सरकार से बार-बार शिकायत की। मगर सरकार बास्टियन को दंड देने के बजाय राजु को ही संदेह की दृष्टि से देखने लगी। पोलवरम् डिप्टी कलेक्टर और एजेंसी कमिश्नर ने राजु को क्रांतिकारी कार्य-कलापों से विमुख करने के लिये पेडिपुट्टि गांव में 30 एकड़ जमीन, दो जोड़े बैल दिलवाये। लेकिन राजु ज्यादा समय तक वहां नहीं रहे। सिर्फ अपने लिये सुख-सुविधायें प्राप्त करना उनका उद्देश्य नहीं था। मन्यम् की जनता का दु:ख-दर्द उन्हें साल रहा था। उनका लक्ष्य यह था कि मन्यम् इलाके में अंग्रेजी शासन को ठप कर दिया जाये और मन्यम् की यह मुक्ति सारे भारत के लिये अनु-करणीय हो।

राजु यह काम शांतिपूर्ण आंदोलन द्वारा करना चाहते थे। लेकिन जब सरकारी अफसरों ने आदिवासियों के साथ पहले से भी अधिक अमानवीय व्यवहार शुरू कर दिया, तो साधु-स्वभाव राजु को सशस्त्र विरोध की राह अपनानी पड़ी और अगले तीन साल उन्होंने सशस्त्र लड़ाई लड़कर अंग्रेज शासकों को भय-कंपित कर डाला। इस लड़ाई में मन्यम की जनताने उनका पूरा साथ दिया।

इस संघर्ष में राजु के पांच मुख्य अनुयायी थे—गंटमदोरा, मल्लुदोरा, अग्गिराजु, वीरय्या दोरा और बालय्या दोरा। राजु हालांकि स्वयं-शिक्षित योद्धा थे, पर अपनी सेना का निर्माण उन्होंने बड़ी चतुराई से किया। पूरी सेना सुशिक्षित एवं अनुशासित थी। हर योद्धा को उसकी प्रतिभा के अनुरूप हथियार दिये गये। उनमें कुछ लोग खड्ग युद्ध में निपुण थे तो कुछ तीर चलाने में, और कुछ बन्दूक चलाने में सिद्धहस्त थे। उनकी सेना में अधिक संख्या आदिवासी युवकों की थी, जिन्हें तीर चलाने और शिकार खेलने का कौशल पैतृक संस्कार में मिला था। इसलिए इन्हें ज्यादा लम्बे सैनिक प्रशिक्षण की आवश्यकता न थी। सेना में कुछ औरतें थीं, जो जासूसी करती थीं।

अंग्रेजों से दीर्घ काल तक लड़ने के लिये हथियारों की सख्त जरूरत थी। इसकी पूर्ति के लिये तीन दिनों में तीन पुलिस थानों पर आक्रमण किया गया। पहला छापा 22 अगस्त 1922 को चिन्तपल्ली पुलिस थाने पर मारा गया। इसमें राजु के साथ तीन सौ सशस्त्र सैनिक थे। थाने में उस समय सिर्फ तीन पुलिस सिपाही थे। राजु को देखते ही वे काँपने लगे। उन्हें खम्भे से बाँधकर थाने की तालाशी ली गई। इस लूट में किसी को मामूली चोट तक न लगी।

दूसरा आक्रमण 23 अगस्त को कृष्णदेवीपेट पुलिस थाने पर हुआ। राजु ने पहले ही थाने में सूचना भेज दी थी कि मैं अपनी सेना लेकर फलां समय थाना लूटने आ रहा हूं। इस चेतावनी से डरकर पुलिस भाग खड़ी हुई और थाना बेरोकटोक लूटा गया।

तीसरा धावा राजवोम्मंगि पुलिस थाने पर 24 अगस्त 1922 को हुआ। इसमें क्रांतिकारी सेना को पुलिस से विकट संघर्ष करना पड़ा। इस हमले का मुख्य उद्देश्य था, बन्दी बनाये गये वीरय्यादोरा को मुक्त कराना। वीरय्या ने 1918 के लागुरिया विद्रोह का नेतृत्व किया था। विमुक्त होकर वीरय्या ने राजु के मुख्य सहयोगी के रूप में अन्त तक सशस्त्र क्रांति में योगदान दिया।

तीन थानों की लूट से राजु को 26 बन्दूकें, बड़ी तादाद में गोला-बारूद, किरचें और छुरियाँ आदि प्राप्त हुईं। लगातार तीन दिन तीन पुलिस थानों को लूटे जाने से सरकार चौकन्नी हो गयी और उसने कड़ा बन्दोबस्त कर दिया। हर थाने पर एक एक अनुभवी कप्तान और चालीस पच्चास सिपाही पहरे पर रखे गये।

24 सितम्बर को खाद्य पदार्थों के लिये क्रांतिकारी जब दमनपल्ली पहुँचे, उसकी खबर कप्तानों को मिल गई। तत्क्षण क्रिस्टफर्ड कवर्ड और लायनेल नेविल हाइटर नामक दो असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्डेंट सदलबल दमन-पल्ली को चल पड़े। दुपहर का समय था। पगडण्डी के दोनों तरफ घना जंगल था। वे लोग चार मील तक पैदल चले आये। क्रांतिकारी सेना के पास पहुंचने के लिये उन्हें अभी दो मील और चलना था। उनकी गतिविधियों को राजु के तीन अनुचर गण्टमदोरा, मल्लुदोरा और गोकिरे एर्रेसू ध्यान से देख रहे थे। तीनों की बन्दूकें भरी हुई थीं और गोकिरे एर्रेसू अचूक निशानेबाज था।

दोनो अंग्रेज कप्तानों के आगे और पीछे भारतीय पुलिस सिपाही हाथों में बन्दूकें थामे चुपचाप चल रहे थे। अचानक पहाड़ की घाटियाँ प्रतिध्वनित हुई। सिर्फ़ दो फायर हुये कवर्ड और हाइटर जमीन पर ढेर हो गये। साथ ही दो भारतीय जवान भी मारे गये। इस आकस्मिक आक्रमण से घबराकर पुलिस दल अपने मृत कप्तानों को वहीं छोड़कर तितर-बितर हो गया।

इन्सपेक्टर जनरल आर्मिटेज की कप्तान कवर्ड से घनिष्ठता थी। अपने मित्र की मरण–वार्ता सुनकर वह बहुत बौखला उठा और उसने क्रांति-कारी सेना का अन्त करने की कसम खा ली। इसी उद्देश्य से वह बड़ी तादाद में सशस्त्र सेना लेकर मोगिलिदोंड्डु पहाड़ी के पास पहुँचा। पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट कीनी ने भी आर्मिटेज का साथ दिया। पर मृत कप्तानों की लाशें भी प्राप्त नहीं हुई। विशाल एवं महान शक्तिशाली अंग्रेज सरकार के लिये यह कितनी शर्म की बात थी।

क्रांतिकारी सेना पर आक्रमण करने के लिये तीन पहाड़ों को पार करना जरूरी था। तीनों की चोटियों पर राजु ने अपनी सेना खड़ी कर दी। इन्पेक्टर जनरल अन्ताड नामक दर्रे पर पहुँचा। पर्वत शिखर से क्रांतिकारी सेनायें गोलियाँ बरसाने लगीं। एक गोली आर्मिटेज की टोपी को छूती हुई निकल गई। आगे बढ़ना खतरनाक जानकरसारी सेना के साथ वह कृष्णदेविपेट चला गया। अन्ततः उसने पाँच सौ रुपये हर्जाना देकर राजु से दोनों कप्तानों की लाशें प्राप्त कीं।

अब सरकार ने लेपटपेंट बिशप को क्रांतिकारियों को कुचलने के लिये नर्सीपट्नम भेजा। उसने स्थानीय पुलिस अधिकारियों से विचार-विमर्श करके एक नयी योजना बनायी, जिसके अनुसार:

1. अपनी क्रूरता के लिये बदनाम सशस्त्र मलबार पुलिस मन्यम् में तैनात की गयीं। 2. टेलिग्राफ ओर वायरलेस की व्यवस्था की गयी। 3. लगभग 8 क्रांतिकारियों की फेहरिस्त बनाकर इसकी व्यवस्था की गयी कि आदिवासी किसी प्रकार उनकी सहायता न कर सकें। आदिवासियों को धमकी दी गयी कि क्रांतिकारियों को आश्रय या सहायता देने पर कड़ी सजा दी जायेगी। 4. यह भी एलान किया गया कि जो राजु को बंदी बनाकर सरकार के हवाले करेगा, उसे 2,000 रूपये का इनाम दिया जायेगा। मल्लु दोरा और गांव दोरा को पकड़वाने के लिये एक–एक हजार रुपये और प्रत्येक क्रांतिकारी सैनिक को पकड़वाने के लिये 50-50 रुपये के इनाम घोषित हुये।

लेकिन सरकार की इन धमकियों और प्रलोभनों की मन्यम् के आदिवासियों ने तनिक भी परवाह नहीं की। सरकार के सभी प्रयत्न असफल हुये। आंध्र की प्रायः हर पत्र-पत्रिका में राजु के क्रांतिकारी कार्य के प्रशंसात्मक वर्णन छप रहे थे। राजु ने पहले सिर्फ मन्यम् की जनता की सहायता से अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई शुरू की थी। पर अब तमाम पूर्व-गोदावरी जिले की जनता अंग्रेजी सरकार के खिलाफ लड़ाई में सभी तरह से राजु को सहायता देने लगी। सरकार अब डरने लगी कि कहीं क्रांति पूरे राज्य में न फैल जाये।

4 अगस्त 1923 को रंपोलु के पास डाक-पुलिस क्रांतिकारी सेना के हाथ में पड़ गयी। डाक-पुलिस के पास डबल रोटी, आलु तथा कुछ सब्जी थी। राजु ने उसे कुछ समय तक रोक रखा और उस से दो-चार रोटियां वसूल कीं और डाक-रसीद के पीछे शिबिर-नायक पीटरसन को चिट्ठी लिखी :

प्रिय पीटरसन,

मेरा अनुचर अग्गिदोरा बुखार से पीड़ित है। दो-चार डबल रोटियां उसके लिये ली गयी। उनके बदले एक टोकरा फल भेज रहा हूं। अन्यथा न लें। (ह.) सीतारामराजु। इस पत्र के द्वारा हमें राजु की उदारता एवं सहृदयता का परिचय मिलता है। कई बार सरकारी अफसर क्रांतिकारी सेना के हाथों में पड़े। लेकिन राजु ने कभी किसी को अकारण हानि नहीं पहुंचाई। इसीलिये कई भारतीय अफसर राजु के प्रति मैत्रीभाव रखने लगे। राजु को पकड़ने के लिये सभी तरह के प्रयत्न करके भी सरकार विफल रही।

श्री नरसिंहराजु ने जो उन दिनों विशाखापट्टनम इलाके के एम. एल. सी. थे, मद्रास विधान परिषद में सरकार की भर्त्सना करते हुये कहा— मद्रास सरकार ढाई वर्ष से प्रयत्न कर रही है, फिर भी विद्रोह का खात्मा नहीं कर सकी सात सौ से ऊपर पुलिस और तीस अफसर इस काम में लगाये गये और तेरह लाख रुपये से ज्यादा खर्च किया गया। फिर भी असफलता ही हाथ लगी। यहाँ तक कि राजु के डर से पुलिस के जवान और अफसर मन्यम जंगल में प्रवेश करने का साहस भी खो बैठे हैं।

खीझकर अंग्रेजी सेना ने आदिवासियों के प्रति क्रूरता बढ़ा दी। इससे जनता में क्रांति के प्रति उत्साह मन्द पड़ने लगा। पुलिस और सेना के साथ मुठभेड़ में राजु के बहुत से साथी मारे गये। जनता में दहशत फैलने लगी। इन कारणों से राजु ने संघर्ष तात्कालिक रूप से स्थगित कर दिया। 7 मई 1924 को मद्रास के अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' में यह खबर छपी कि राजु सजीव पकड़े गये हैं। मेजर गुडाल ने उन्हें अदालत में पेश करने के बजाय एक पेड़ से बाँधकर पिस्तौल से उनकी छाती पर गोलियाँ दागीं। इस तरह केवल सत्ताईस वर्ष की वय में राजु देश की स्वतन्त्रता के लिये शहीद हो गये।

श्री सुभाषचंद्र बसु ने उनकी अन्यायपूर्ण हत्या की तीव्र भर्त्सना की और उनके आत्मोत्सर्ग की सराहना करते हुये कहा–'राष्ट्रीय आंदोलन में श्री राजु ने जो योगदान दिया, उसकी प्रशंसा करते हुये मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होती है।...उनका धैर्य, साहस, देशभक्ति, अखंड निष्ठा और पौरुष सदा अविस्मरणीय रहेंगे। मुझे विश्वास है कि भारतीय युवक ऐसे भारतीय वीरों की आराधना करना नहीं भूलेंगे।'

13

दक्षिण के हिन्दी साहित्यकार बालशौरि रेड्डी

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व से हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार एवं विकास में दक्षिण भारतवासियों का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। इस दिशा में अनेक निस्वार्थ हिन्दी प्रचारक एवं सृजनशील साहित्यकारों ने महत्वपूर्ण सेवा की। श्री बालशौरि रेड्डी ने हिन्दी प्रचारक एवं साहित्यकार के रूप में अद्वितीय परिश्रम किया है। फलत: तेलुगु भाषी बालशौरि रेड्डी को हिन्दी में सर्जनात्मक एवं अनूदित रचनाओं के लिये राष्ट्रीय स्तर पर सर्वश्रेष्ठ ख्याति मिली है। श्री रेड्डी की प्रतिभा बहुमुखी है। वे एक साथ एक सफल सर्जनात्मक लेखक, पत्रिका सम्पादक, अनुवादक और हिन्दी तथा तेलुगु की सभी साहित्यिक विधाओं के सफल रचयिता भी हैं। अब तक आपके 46 हिन्दी ग्रन्थ तथा पाँच तेलुगु ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं। आपकी अनेक हिन्दी रचनायें अत्यन्त लोकप्रिय एवं चर्चित ही नहीं हुई, अपितु उत्तर एवं दक्षिण भारत में भी पुरस्कृत हुई हैं।

श्री बालशौरि रेड्डी का जन्म 1 जुलाई 1928 में आंध्र प्रदेश के कडपा जिले में एक मध्यवित्त किसान परिवार में हुआ था। स्कूली-शिक्षा प्रशिक्षण विद्या की समाप्ति के बाद कालेजों में विशेष अध्ययन करने की सुविधा न मिलने पर भी अपने निरन्तर परिश्रम, लगन एवं सृजनशीलता के बल पर आज श्री रेड्डी सारे दक्षिण में एक ऐसे हिन्दी साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हुये हैं जिनके साहित्य पर अनेक विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य चल रहा है। तीन–चार विश्वविद्यालयों के वे परीक्षक ही नहीं, भारत सरकार के अनेक मन्त्रालयों के हिन्दी सलाहकार भी हैं। अनगिनत प्रतिष्ठित संस्थाओं से सम्मानित, निरन्तर देश भर में गोष्ठियों, व्याख्यान कार्यक्रमों में भाग लेते रहते हैं। पहले दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्राध्यापक एवं प्राचार्य रहे, तदनन्तर

प्रकाशन विभाग में सम्पादन कार्य आदि कर चुके हैं। सम्प्रति 'चन्दामामा' (हिन्दी) के सम्पादन कार्य में लगे हैं। अपने व्यस्त कार्यक्रमों के बावजूद श्री रेड्डी नियमित रूप से लेखन कार्य को जारी रखते हैं, साथ ही मित्र एवं बन्धुजनों के काम काज में भी भरपूर हाथ बंटा लेते हैं।

श्री बालशौरि रेड्डी के सृजनात्मक साहित्य की सफलता के अनेक कारण हैं। वे अपनी किशोरावस्था में ही राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं हिन्दी साहित्य के अध्ययनार्थ दक्षिण से उत्तर भारत पहुँचे। इलाहाबाद और काशी में आपको पं० कमलापति त्रिपाठी, पं० गंगाधर मिश्र, महान साहित्यकार सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जैसे साहित्यिक विभूतियों का आश्रय प्राप्त हुआ था। वहाँ पर सन 1948 के आसपास 'साहित्यरत्न', 'साहित्यालंकार' आदि परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुये। लेखन कार्य श्री रेड्डी ने इसी समय में आरम्भ किया था।

इस सन्दर्भ में मैंने उत्सुकतावश रेड्डीजी के सामने यह प्रश्न उठाया कि 'ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिनसे प्रेरित होकर आपने हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अध्ययनार्थ अपनी किशोरावस्था में ही उत्तर भारत चले गये ?' श्री रेड्डी का उत्तर इस प्रकार रहा— "हाईस्कूल में पढ़ते समय इतिहास मेरा प्रिय विषय रहा है। उत्तर भारत का इतिहास पढ़ने के पश्चात मेरे मन में उन इतिहास–प्रसिद्ध स्थलों को देखने की जिज्ञासा जागृत हुई। सन 1946 में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की रजत जयन्ती का उद्‌घाटन करने महात्मा गांधी पधारे। उनके दर्शन करने के लिये हम 45 विद्यार्थी मद्रास पहुँचे। महात्माजी के भाषण हम लोग पाँच-छे दिन लगातार सुनते रहे। उन्होंने कहा कि उनके 14 रचनात्मक कार्यक्रमों में हिन्दी का प्रचार एक है। विद्यार्थियों को अभी से हिन्दी में दक्षता प्राप्त करके हिन्दी का प्रचार करना चाहिये, क्योंकि स्वाधीनता के पश्चात भारत की राजभाषा हिन्दी होगी और अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करेगी। इसके बाद दक्षिण में मैंने सभा की सारी परीक्षायें उत्तीर्ण की। साहित्य के प्रति मेरी अभिरूचि बढ़ती गई। इन सब कारणों से उत्प्रेरित होकर प्रयाग पहुंचा। नैनी हिन्दी विद्यापीठ में कुछ समय तक अध्ययन किया, फिर वाराणसी जाकर वही पर मैंने अपनी हिन्दी की सभी परीक्षायें उत्तीर्ण की।"

फिर श्री रेड्डी ने अपने आरम्भिक रचनाकार्य के अनुभवों को स्मरण करते हुये कहा— मैंने 1948 में लिखना शुरू किया। वैसे मेरी प्रेरणा के अनेक स्रोत हैं। मैं कह नहीं सकता, अभिव्यक्ति की राह में किस स्रोत का प्राधान्य रहा? किन्तु इतन सत्य है कि विन्ध्याचल समीपवर्ती प्रकृति ने मेरे हृदय को आवश्यकता से अधिक अभिभूत किया, परिणामस्वरूप निसर्ग की उस अपूर्व सुषमा की अर्चना करते मेरी अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होने को तड़प उठीं।... यदा-कदा लिखते मेरा विश्वास बंधता गया कि मैं सफलता की राह पर गतिशील हूँ, लक्ष्य दूर नहीं है। किंतु जब मैं मूर्धन्य कलाकारों की कृतियों का अध्ययन करता हूँ और अपनी अनुभूतियों के साथ मिलान करके देखता हूँ तो मुझे प्रतीत होता है कि मेरी भावात्मक पूंजी अत्यल्प है और मैं उन महान साहित्यकारों के समक्ष निर्धन हूँ।' वास्तव में वह काव्य-गान का जमाना था और रेड्डीजी भी कविता करने का साहस करने लगे। दो-चार क़वितायें इधर-उधर पत्रों में प्रकाशित होने लगीं। फिर भी अपने काव्य-लेखन से उन्हें कोई संतोष नहीं हुआ। उस समय की द्विधा को रेड्डीजी इस प्रकार प्रकट करते हैं — 'मैंने सोचा, यदि मैं इस असंतोष को इसी प्रकार पालता रहूँ तो एक दिन अवश्य पागल हो जाऊँगा। इसी संशयात्मा को लेकर मैं अपने आचार्य पं. गंगाधरजी मिश्र की सेवा में पहुंचा और उनसे अपनी आत्म-ग्लानि की बात बतायी। पण्डितजी ने बड़ी सहानुभूति, सहृदयता और वात्सल्य भाव से मुझे समझाया "रेड्डीजी, मैं सच्ची बात कहूंगा, तुम निराश न होना। क्योंकि मैं तुम्हारा हित चाहता हूं और तुम्हारी प्रतिभा से भी परिचित हूं, इसीलिये मैं तुमको गलत राह पर छोड़ना नहीं चाहता। सत्य तो यह है कि तुम जितना अच्छा गद्य लिख सकते हो उतनी अच्छी कविता नहीं। मेरा अनुभव यह बताता है कि गद्य के प्रति तुम्हारी स्वाभाविक जो अभिरूचि है, जो झुकाव है, जो लगन है, वह कविता के प्रति चाहते हुये भी नहीं हो सकती।... अत. तुम्हारे हितैषी के नाते मेरी यही सलाह है, तुम समय और सन्दर्भ के अनुरूप गद्य की विभिन्न विधाओं पर कलम चलाओ, अवश्य तुम्हें सफलता मिलेगी।" पण्डितजी का यह सुझाव मेरी भावी साहित्यिक सर्जनात्मक यात्रा का पाथेय बना और सम्बल बना।' इस प्रकार रेड्डी जी ने अपने अगले जीवन में गद्य-साहित्य के विभिन्न विधाओं के सृजन कार्य में लग गये।

आरम्भिक दिनों में वैसे तो रेड्डीजी ने निबन्ध लेखन के प्रति रूचि दिखाई। फिर गम्भीर अध्ययन मनन के उपरान्त कथा साहित्य को अपना

प्रिय विषय बना लिया था। रेड्डीजी अपनी रचनाओं के लिये अकसर अपने प्रादेशिक परिवेश एवं इतिवृत्त को अपना लेते है। प्रादेशिक संस्कृति, आचार-विचार, इतिहास को अपनी शैलीगत प्रतिभा के साथ उपन्यासों में पिरोकर हिन्दी पाठकों के सम्मुख ऐक अनौखा और मौलिक रंग-रूप प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार इनकी रचनाओं के माध्यम से तेलुगु भाषियों का जीवन-यापन, तौर-तरीके, समाज और इतिहास का परिचय हिन्दी पाठकों को मिल जाता है।

वस्तुत: इन्होंने हिन्दी साहित्य के साथ तेलुगु के प्राचीन एवं आधुनिक साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति का गहन अध्ययन ही नहीं किया, अपितु इन रचनाओं एवं रचनाकारों पर हिन्दी में सफलतापूर्वक टीका-टिप्पणी भी की थी। इस सन्दर्भ में इनका यह वक्तव्य उल्लेखनीय है — 'पुस्तक रुप में प्रकाशित मेंरी पहली कृति 'पंचामृत' हैं। इसमें तेलुगु के पांच युग-प्रवर्तक कवियों के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर विश्लेषणात्मक समीक्षा के साथ उनकी कृतियों के प्रमुख अंशों का हिन्दी रुपांतर भी प्रस्तुत हुआ है।' इस ग्रंथ में रेड्डीजी ने पहले तेलुगु साहित्य की धारा का संक्षिप्त परिचय तथा छंद, अलंकार आदि का विवेचन भी किया है। अंत में शब्दार्थ भी परिशिष्ट में जोड़ दिये गये हैं। हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में इसकी अच्छी समीक्षा हुई। विद्वानों की भी प्रशंसायें प्राप्त हुई। यह कृति सन 1954 में प्रकाशित हुई और 1956 में केंद्र सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हुई थी।

इसी सिलसिले में श्री रेड्डीजी ने सन 1964 में 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' नामक महत्वपूर्ण एवं मौलिक रचना का प्रणयन किया था। इस ग्रंथ के लिखने में आपको काफी परिश्रम करना पड़ा' इस सन्दर्भ में रेड्डीजी ने कहा — 'मेंने (इस रचना के पूर्व) गत दस-बारह वर्षो में तेलुगु साहित्य का जो अध्ययन एवं अनुशीलन किया, उसका सुन्दर फल यह ग्रंथ है। साढ़े तीन सौ पृष्ठों में प्रकाशित यह ग्रंथ हिन्दी समिति, सूचना-विभाग उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित है। इस ग्रंथ के प्रणयन में मैंने जितना श्रम किया उतना शायद अन्य किसी ग्रंथ के लिये नहीं किया।' खेद के साथ कहना पड़ता है कि तेलुगु में इस प्रकार समग्र रुप में तेलुगु साहित्य के इतिहास पर एकाध ग्रथ ही प्रकाशित हो पाया है, जो भी प्रकाशित हुये हैं

अलग अलग अंश या काल पर। इस संदर्भ में श्री रेड्डीजी का यह मौलिक आलोचनात्मक ग्रन्थ अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री रेड्डीजी ने तेलुगु प्रदेश का भौगोलिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। तदुपरांत वैदिककाल से लेकर आधुनिक काल तक आंध्र के इतिहास का संक्षेप में परिचय दिया है। इसके बाद क्रमश : तेलुगु भाषा की प्रशस्ति, विकास का परिचय कराया है। इसके अनंतर तेलुगु के समस्त साहित्य को छे युगों में विभाजित कर प्रत्येक युग की पृष्ठभूमि के साथ उस युगीन परिस्थितियों, कवियों तथा उनकी कृतियों का भी सम्यक बिवेचन किया है। यह ग्रन्थ तेलुगु एवं हिन्दी विद्वानों के द्वारा भी प्रशंसित हुआ है। इस प्रकार की पुस्तकों में उनके 'आन्ध्र के महापुरुष', 'आन्ध्र भारती', 'तेलुगु साहित्य के निर्माता', 'तेलुगु की लोक-कथायें' आदि उल्लेखनीय हैं। सन 1987 में 'तेलुगु साहित्य के निर्माता' शीर्षक रेड्डीजी के निबन्ध संग्रह को केंद्रीय सरकार, शिक्षा मन्त्रालय ने पुरस्कृत किया। तीन सौ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में ईसवीं ।। वीं शती से लेकर आधुनिक काल तक तेलुगु के जिन महान साहित्यकारों ने तेलुगु वाङमय के निर्माण में अपनी प्रतिभा एवं विद्वत्ता का योगदान दिया है, उन प्रतिनिधि साहित्यकारों पर सोदाहरण परिचयात्मक एवं गवेषणात्मक विश्लेषण हुआ है।

इस प्रकार रेड्डीजी ने अपनी मातृभाषा तेलुगु और उसके साहित्य, उस प्रान्त के इतिहास एवं संस्कृति पर संपूर्ण अधिकार प्राप्त करने के बाद हिन्दी कथा-साहित्य के सृजन में प्रवेश किया। यह सही भी है कि जब एक सृजनात्मक साहित्यकार अपनी मातृभाषा के अलावा अन्य भाषा-साहित्यों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, उनकी रचनाओं में विविधता, व्यापकता एवं गहनता के साथ मानव-जीवन का जीता-जागता चित्र, शैलीगत-प्रौढ़ता आदि अवश्य प्रकट हो जाती हैं। परिणामस्वरूप वे रचनाएँ साहित्यिक-मूल्यों की दृष्टि से अत्यन्त सफल सिद्ध होती हैं।

बालशौरि रेड्डी ने सन 1959 तक मौलिक निबन्ध, लेखन के साथ तेलुगु से अनेक कहानियों, नाटक-एकांकी और उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया था। लेकिन मौलिक हिन्दी उपन्यास के लेखन की दिशा में नाटकीय ढंग से उन्हें प्रवेश करना पड़ा। इस सन्दर्भ में रेड्डी जी का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है— 'उपन्यास लिखने की न मैंने कभी कल्पना की थी

और न ही योजना बनाई थी। मैं इसे संयोग की ही संज्ञा दूंगा कि अचानक एक दिन राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली के अधिपति श्री विश्वनाथ मल्होत्रा से पत्र मिला कि मैं उन्हें एक उपन्यास लिखकर दूं। पत्र पाते ही मैं चौकन्ना रह गया। ...वैसे मैंने हिन्दी के प्राय: सभी प्रमुख उपन्यासों की समीक्षा का अध्ययन एवं अध्यापन किया था। उन पर आलोचना पढ़ी थी, कतिपय उपन्यासों की समीक्षा भी की थी, उपन्यास की कला की बारीकियों का सैद्धान्तिक ज्ञान रखता था। फिर क्या था, मैं कथावस्तु का अन्वेषण करने लगा। विचार करते करते मेरे मस्तिष्क में यह बात आई कि 'शबरी' का चरित्र जो रामायण में चित्रित है, उसकी पृष्ठभूमि तथा उस युगीन स्थितियों का उसमें वर्णन नहीं हुआ है। मुझे उन दिनों में तेलुगु के अनेक रामचरित सम्बन्धी काव्य ग्रन्थों का अनुशीलन करना पड़ा था। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अभिनन्दन ग्रन्थ के लिये तेलुगु साहित्य में 'रामचरित' शीर्षक पर एक निबन्ध लिख भेजने का आदेश दिया था। उस सन्दर्भ में शबरी के चरित्र से बहुत प्रभावित हुआ। और 'शबरी' उपन्यास की रचना 21 दिनों में पूरी हुई।' रेड्डी जी के इस प्रथम उपन्यास को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। अब तक इसके चार संस्करण निकल चुके हैं। उस उपन्यास की सफलता के बाद वे 'जिन्दगी की राह', 'यह बस्ती – लोग', 'भग्न-सीमायें', 'स्वप्न और सत्य' 'प्रोफेसर', 'लकुमा' (ऐतिहासिक), 'धरती मेरी माँ', 'दावानल' (ऐतिहासिक), 'बैरिस्टर', 'प्रकाश और परछाई' (ऐतिहासिक) आदि हिन्दी उपन्यासों का प्रणयन किया था। इनके उपन्यासों में 'जिन्दगी की राह' 1966 में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा विभाग, भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ है। 'धरती मेरी माँ' राष्ट्रभाषा परिषद, पटना द्वारा, 'दावानल' हिन्दी प्रतिष्ठान, हैदराबाद द्वारा तथा 'लकुमा' ज्ञानभारती, बेंगलूर विश्वविद्यालय द्वारा पुरस्कृत हुये हैं।

श्री रेड्डी ने अपनी सृजनात्मक साहित्य की रचना की प्रेरणा तथा रचना पद्धति के बारे में कहा— 'मुझे लिखने की प्रेरणा बहुधा समाज से ही प्राप्त होती है। नित्यप्रति होने वाली घटनाओं, समाचार-पत्रों, कार्टूनों, मित्रों तथा परिचित व्यक्तियों की आप-बीती घटनाओं, यदा–कदा चित्रों से भी मुझे प्रेरणा मिलती है। ग्रन्थ तथा पत्रिकाओं के पठन के समय उनसे सम्बन्धित समानान्तर भावनायें जो कि मेरे अनुभव में सुनने तथा देखने में

आयी होती हैं, मेरी संवेदनशीलता द्वारा पुष्ट होकर अभिव्यक्त होने को मचलती है।' इसी प्रकार अपने लिखने की पद्धति पर भी इस प्रकार कहा–'लिखने या बोलने के पूर्व मैं संक्षेप में योजना-सूत्र बना लेता हूं—लेखन के समय मेरा ध्यान इस दिशा में अवश्य रहता हैं कि उपन्यास का कलेवर इतने पृष्ठों से ज्यादा न हो। अनावश्यक कलेवर न बढ़े। संक्षेप में सारी बातें आ जायें। यही कारण है कि मैंने अपनी प्रारम्भिक पाँच उपन्यास दो सौ पृष्ठों के लिखे हैं। छटा उपन्यास 'स्वप्न और सत्य' पाँच सौ पृष्ठों का योजना-बद्ध होकर ही बन सका है।'

रेड्डी जी जितनी सरलगति से मौलिक रचना का सृजन करते हैं उसी सहज गति से अनुवाद भी करते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि बाल-शौरि रेड्डी ने प्राचीन एवं आधुनिक तेलुगु ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद सर्वाधिक मात्रा में किया है। इस दिशा में आपने तेलुगु साहित्य की सभी विधाओं—काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक-एकांकी, आत्मकथा आदि का सहज-शैली में अनूदित कर राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्रीवृद्धि में इतोधिक सेवा की। इसी प्रकार आपने कुछ हिन्दी ग्रन्थों का तेलुगु में सफलतापूर्वक अनूदित किया है। डॉ० शांत कुमार नानूराम व्यास कृत 'रामायण काल में भारत संस्कृति' का अनुवाद इसका अच्छा उदाहरण है। इस अनूदित रचना ने सन 1962 में 'आंध्र ज्योति' तेलुगु दैनिक पत्र में धारावाहिक रूप में 36 सप्ताह प्रकाशित होकर पाठक एवं विद्वानों की प्रशंसा प्राप्त की जो सन 1982 में पुस्तक के रूप में तेलुगु में प्रकाशित हुई। इनकी अन्य तेलुगु रचनायें हैं—'जीवनसूत्र' 'तेर वेनुक', 'दूरपुटंचुलु' आदि उपन्यास और 'वेश्या' काव्य।

हिन्दी प्रचार एवं हिन्दी तथा तेलुगु के लेखन क्षेत्र में श्री रेड्डी के दीर्घकालीन अनुभव को दृष्टि में रखते हुए मैंने उनसे यह प्रश्न किया कि 'अपने लेखन कार्य से आपको पाठक एवं सरकार की ओर से जो सत्कार प्राप्त हुआ है, क्या आप सन्तुष्ट हैं ?' उनका उत्तर इस प्रकार रहा—'वास्तव में कोई भी लेखक पाठकों की स्वीकृति, सन्तोष व आदर पर अधिक सन्तुष्ट होता है...यह सन्तोष आत्मिक होता है। इसका मूल्यांकन नहीं हो सकता। अनेक पाठकों ने मेरी रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, मेरे सामने अनेक प्रश्न रखे, उनका उत्तर मैंने 'साहित्य-परिचय' आदि पत्र-

पत्रिकाओं में दिया था । समीक्षकों ने भी मेरी रचनाओं की अच्छी समा–लोचना की कुछ प्रशंसात्मक, कुछ उत्साह एवं प्रोत्साहन-वर्धक । राज्य सरकारों से भी मुझे कोई शिकायत नहीं है । मुझे अप्रत्याशित रूप में ही भारत सरकार, उत्तर प्रदेश एवं बिहार सरकारों द्वारा पर्याप्त आदर मिला, पुरस्कार भी प्राप्त हुये । मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा और दिल्ली आदि सरकारों के पास कभी मैंने अपनी पुस्तकें आज तक न पुरस्कार के लिये प्रेषित कीं और न मेरे प्रशंसकों ने । परन्तु मध्य प्रदेश साहित्य परिषद ने अपने विभिन्न कार्यक्रमों में लगातार मेरा सहयोग प्राप्त किया है, इसी प्रकार केन्द्र साहित्य अकादमी, एन. सी. ई. आर. टी., केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, हिन्दी प्रतिष्ठान, आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हिन्दी विद्यापीठ, देवधर आदि बराबर मेरा सहयोग लेते रहे हैं ।' आगे उन्होंने फिर कहा— 'मैं ऐसा व्यक्ति नहीं हूं कि पुरस्कार व सम्मान प्राप्त होने पर खुशी से फूल जाऊँ और न प्राप्त होने पर हताश हो जाऊँ । बस, मैं अपना काम करता हूं । पिछले 40 वर्षों से मैंने जो लेखन कार्य किया है, उसे हिन्दी जगत ने अब स्वीकारा है । उसकी पहचान में समय लगता है— परिपक्वता में भी लगता है..."केतकि सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।"

वास्तविक जीवन में रेड्डी जी स्पष्टवादी, मिलनसार, संवेदनशील एवं हँसमुख स्वभाव के हैं । प्रत्यक्ष रूप से श्री बालशौरि रेड्डी के परिवार से परिचित हर कोई यह अवश्य जानता है कि आपकी साहित्यिक-सर्जना की सफलता के पीछे आपकी श्रीमती सुभद्रादेवी जी का सम्पूर्ण सहयोग छिपा हुआ है ।

श्री बालशौरि रेड्डी के हिन्दी प्रचार व लेखन के बृहत कार्य को ध्यान मे रखते हुये हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्र साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है ।

14

राष्ट्रीय भावात्मक एकता

जब श्रीलंका में रावण का वध हुआ और लंका नगर राम के वश में आ गया तब लक्ष्मण ने श्रीराम से प्रार्थना की कि कुबेर द्वारा निर्मित अत्यन्त सुन्दर, सुव्यवस्थित, उद्यानवनों से सुशोभित एवं स्वर्ण–खचित महलों से, कला वैभव से विलसित विशाल श्रीलंका नगर को मत छोड़िये, यहाँ के राजपथ सुव्यवस्थित एवं सुरक्षित हैं और यह नगर सर्वललित कलाओं का संगम भी है। तब श्रीराम ने स्वराष्ट्र का प्रेम और भारत की वैदेशिक नीति का निर्देश इस प्रकार स्पष्ट किया था :

अपिस्वर्णमयी लंकान में लक्ष्मण रोचते।
जननी, जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि ॥

तात्पर्य है कि हे लक्ष्मण ! लंका नगर स्वर्ण–खचित महलों और सर्वकला सम्पन्न अवश्य है लेकिन तुम कभी यह मत भूलो कि माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है। चाहे विदेश जितना भी आकर्षक एवं भोगतुल्य क्यों न हो उस मोह को तुम छोड़ दो। अपनी माता और मातृ-भूमि की सेवा करना तुम्हारा परम कर्तव्य है। हजारों वर्ष पूर्व लिखित हमारे आदिकाव्य रामायण में वाल्मीकि द्वारा निर्देशित यह नीति आज भी सारे भारतवासियों के रक्त में संचार कर रही है।

हम जिस मिट्टी में जन्म लेते हैं, जिसके गोद में फलते-फूलते हैं उस के प्रति प्रेम और अनुराग अपने आप पैदा हो जाता है। एक जागरूक व्यक्ति अपने माता-पिता, पुत्र-पौत्र की उन्नति एवं विकास के प्रति जितना प्रयत्न एवं प्रतीक्षा करता है वह अपने राष्ट्र और समाज के विकास के प्रति भी उतनी ही निष्ठा के साथ प्रयत्नशील रहता है क्योंकि इसी में खुद की भलाई भी छिपी हुई है।

किसी भी राष्ट्र की भावात्मक एकता के लिये मुख्यतः भौगोलिक इकाई के साथ उस भू-भाग में निवास करने वाले अधिकांश लोगों की

संस्कृति, भाषा, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, जाति, सामाजिक आचार-व्यवहार, प्रशासनिक प्रणाली आदि अंशों में समानता एवं एकरूपता की आवश्यकता होती है। परिवहन एवं संचार साधनों की सुविधायें विभिन्न भागों में निवास करने वाली जनता को जोड़ती है और आपसी सम्बन्धों में सौहार्द्रता और आकांक्षाओं में सारूप्यता प्रतिफलित होती है। विदेश या अड़ोस-पड़ोस देशों के आक्रमण या दबावों के कारण से भी किसी भी देशवासियों में राष्ट्रीय भावना के तत्व एकोन्मुख एव समृद्ध होने लगते हैं और भावात्मक एकता को सुदृढ़ बनाने के लिये विवेकशील मनीषियों के द्वारा जानबूझकर, सोच-विचारकर अनेकता में एकता लाने का कृत्रिम प्रयत्न भी किये जाते हैं। इसके उदाहरण के रूप में निम्नलिखित अंश लिये जा सकते हैं : राष्ट्रीय प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुये किसी एक स्वदेशी भाषा को राष्ट्रीय या सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित कर लेना, वर्तमान राष्ट्रीय भावनाओं के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय इतिहास का पुनर्लेखन एवं पुनर्मूल्यांकन करना और अनेक कारणों से जन-मन से वंचित एवं शिथिल प्राचीन कला एवं सांस्कृतिक मूल्यों को नये रूप में जनता के मन-पटल पर अंकित कर बिभिन्न जाति, धर्म एवं संस्कृतियों में समन्वय एवं सद्भावना को बढ़ावा देने की भी आवश्यकता होती है। समय-समय पर जिस किसी वर्ग या जन समूह में अनेक छोटे-मोटे कारणों से भावात्मक एकता की क्षति होने के अवसर भी आते हैं, ऐसे सन्दर्भो में मूल समस्या का समाधान ढूंढ निकालने का कर्तव्य केवल उस राष्ट्र की सरकार का ही नहीं, सारे नागरिकों का भी हो जाता है।

पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार—स्वतन्त्रता, समानता और सौभातृत्व आदि मूल सिद्धान्तों के आधार पर सर्वप्रथम फ्रांस क्रांति ने आनुवंशिक पालन को विश्व के भू-पटल से हटाकर लोकतांत्रिक राष्ट्रों के निर्माण कर लेने में विश्व को मार्ग-दर्शन किया था। इस प्रकार उक्त मूल-सूत्रों के आधार पर सार्वजनिक समस्याओं के परिष्कार के लिये जनता संगठित प्रयास कर स्वयं अग्रसर होने लगे और इसी क्रम में राष्ट्रीयता और भावात्मक एकता आदि नये मूल्य विश्व भर में व्याप्त हुये।

विश्वविख्यात भारतीय दार्शनिक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन उक्त मन्तव्य को गलत मानते हैं। उनके अनुसार— "पाँच हजार वर्ष से अधिक समय पूर्व से ही हमारे यहाँ लोकतन्त्र की बुनियाद है। वेदों को सम्भवतः

तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व लिखा गया होगा लेकिन उनकी रचना काफी पहले हो चुकी थी। अस्तु, लोकतांत्रिक व्यवस्था कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे हाल में पश्चिमी देशों से प्राप्त किया गया हो। ये प्रवृत्तियाँ हमारे यहाँ रही हैं।"

इसी प्रकार भारत की भावात्मक एकता अनेक सहस्रों वर्ष पूर्व से बनी हुई है। भौगोलिक इकाई के साथ धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और समय-समय पर अवतरित समन्वयवादी महापुरुषों के त्याग, सत्यान्वेषण, संयम-प्रवचन एवं सदाचारों के कारण भारत की भावात्मक एकता के तत्वों को नित्य नूतन शक्ति प्राप्त होने लगी। भौगोलिक रूप से भारत की उत्तर और पूर्व दिशा में अगम्य पर्वत-शिखरों से तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर समुद्रों से घेरकर भारत को ऐक स्वतन्त्र भू-भाग का रूप प्राप्त हुआ है। इस एकता का एक प्रमुख कारण विश्व-मानवता के कल्याणकारी हिन्दू धर्म को माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में हमारे राष्ट्रीय कवि 'दिनकर' जी के ये शब्द अत्यन्त उल्लेखनीय हैं—"जो किसी भी विश्वास विशेष के लिये दुराग्रह नहीं करता जो सहिष्णुता, स्वाधीन चिन्तन एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता का संसार में सबसे बड़ा हामी रहा है। ईश्वर को मानो या न मानो, उपासना साकार की करो या निराकार की। अनेक देवताओं में विश्वास रखो या फिर किसी देवता को मत मानो किन्तु यदि तुम हिन्दू रहना चाहते हो तो हिन्दू समाज से तुम्हें कोई भी नहीं निकालेगा। इतनी स्वतन्त्रता अपने अनुयायियों को संसार में किसी भी धर्म ने नहीं दी थी।".. इस प्रकार हिन्दू धर्म की पाचन-शक्ति इतनी महान रही है कि हरेक विदेशी या स्वदेशी धर्म और उनकी शाखाओं और प्रशाखाओं के आचार-विचारों को आसानी से समेट लेता रहा और हिन्दू धर्म सदा नित्य नूतन और परम पावनी बनने लगा।

इस उपखंड पर शक, हूण, मंगोल, पठान, मुगल आदि अनेक विदेशी जातियों के अनेक दुराक्रमण हुए। धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा में विदेशी शासकों ने यहाँ की जनता पर असहनीय अत्याचार किया और नाना प्रकार के प्रलोभन दिखाये। लेकिन उनके सारे प्रयास यहाँ की मूलभूत वैचारिक, धार्मिक एवं साँस्कृतिक सघनता को पिघलाने में नकामयाब रहे। प्रत्युत जो भी विदेशी जातियाँ भारत के अन्दर प्रविष्ट हुई, ारतीयता की रंगत में रम गयी हैं।

हजारों वर्षों के सह जीवन ने हमें एक शक्तिशाली एवं अनेकता में एकता और एकता में अनेकता प्रतिफलित होने वाली इन्द्रधनुषी संस्कृति का रूप दे दिया। इस देश में एक ही धर्म के अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं के रूप में धार्मिक आंदोलन चल पड़े। समय-समय पर युगांतर-कारी महापुरुष उत्पन्न हुये। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि, दार्शनिक, साहित्यकार, कलाकार, विभिन्न धार्मिक नेता चाह वे भारत के किसी प्रान्त, भाषा, धर्म या विदेशी जाति के क्यों न हों उन सभी महामनीषियों ने भारत की सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता का गुणगान किया है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि क्षेत्रों में असाधारण सफलता प्राप्त महापुरुषों ने अपनी कला-कृतियों, रचनाओं में संपूर्ण भारतीयता की परिकल्पना प्रस्तुत की थी।

वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, गीता, स्मृति, पुराण आदि विश्व के अति प्राचीन एवं महान ग्रंथ माने जाते हैं जिनके आधार पर भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ था। उक्त प्राचीन ग्रंथों में मानव–जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीर विवेचन, मानव-मूल्यों के निर्णयात्मक सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है। साथ ही सभी प्रान्त एवं भाषियों के मन:पटल पर एक ही प्रकार की विचारधारा ऐहिक एवं पारलौकिक विषयों पर समान विश्वास अंकित किये गये। भगवान और मनुष्य, कर्म, पुरुषार्थ भाग्य, मोक्ष-प्राप्ति, उत्सव, मेले, त्योहार, यज्ञ-याग आदि अनेक विश्वास सभी भारतवासियों में समान रूप से पाये जाते हैं।

प्राचीन काल से भारतवासियों का यह विश्वास रहा हैं कि देश के कोने-कोने में उपस्थित तीर्थस्थान, पुण्य क्षेत्रों का दर्शन कर अपने पाप कर्मों से विमुक्ति प्राप्त करें। उस समय यातायात की कोई सुविधा नहीं रहती थी, क्रूर-मृग और चोरों का भय अनुनित्य रहा करता था। प्राकृतिक विभीषिकाओं, नदी-नालो को निर्भीक होकर पार करते थे। और एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्त के पुण्य क्षेत्रों एवं तीर्थ स्थान पहुंचकर अपने पवित्र विश्वासो की पूर्ति कर लेते थे। इन यात्रायों के कारण अनायास ही लोग वहाँ के पावन क्षेत्र, पर्वत, नदियों, प्रकृति शोभित वनों को अपनी मातृभूमि समझते थे। इस प्रकार एक प्रान्तवासी दूसरे प्रान्तवासियों के सम्पर्क में आ जाते थे। फलस्वरूप सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक

कार्यकलापों का विचार-विनिमय हो जाता था। इतना ही नहीं, उन पुण्य क्षेत्रों पर विवेकशील महापुरुष धर्म एवं दर्शन पर बहस चलाते थे। संस्कृत भाषा सारे देश की बुद्धिजीवियों की सम्पर्क भाषा रही थी। इस प्रकार प्रांत, भाषा, धार्मिक शाखाओं-प्रशाखाओं के अन्तः कलहों से परे होकर भारतवासी प्राचीन काल से कन्याकुमारी से लेकर हिमालय पर्वत शिखरों तक इस विशाल भू-भाग को अपना देश और इस सुदूर और सुन्दर भू-भाग में बसने वाले लोगों को अपने देशवासी समझते थे।

भारतीय भाषाओं का सामीप्य :

यह सभी जानते हैं कि संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति की कुन्जी है जो सभी भारतीय भाषाओं के लिमें मातृ-तुल्य है। इसी भाषा के माध्यम से प्राचीन राजाओं ने अपनी प्रभुसत्ता को सम्भाला, विभिन्न प्रदेशों के विद्वान एवं बुद्धिजीवियों के लिये अपने ज्ञान एवं विद्वत्ता को आदान-प्रदान करने का योग्य संवाहिका के रूप में काम किया था। रामायण, महाभारत, गीता, वेद, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थ जो हमारे धार्मिक, वैचारिक एवं सांस्कृतिक सम्पत्ति हैं, संस्कृत से ही सभी भारतीय भाषाओं में स्वेच्छापूर्वक रूपांतरित हुये हैं। इस तरह आर्य संस्कृति एवं कलाओं की पवित्र सलिल धारायें संस्कृत के माध्यम से हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक बह निकलीं।

यदि हम अपनी आधुनिक भाषाओं की तरफ देखें तो पता चलेगा कि वे एक-दूसरे से कितना निकट और सीखने में कितना आसान है। दक्षिण और उत्तर की भाषाओं में व्याकरण सम्बन्धी भिन्नता को छोड़कर भारत के किसी दो प्रदेशों की प्रादेशिक भाषाओं के मुहावरे व कहावतों में भी काफी सामानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। इसके अलावा एक और सन्निहित यह भी है कि सभी भारतीय भाषायें संस्कृत शब्द-गर्भित हैं।

भारत की राजभाषा और प्रादेशिक भाषायें :

अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन के कारण लोग पाश्चात्य देशों की प्रजा-तन्त्रात्मक प्रणाली और आधुनिक विज्ञान से परिचित एवं प्रभावित होने लगे। अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये भारत में भी रेल, डाक-तार, समाचारपत्र, कपड़े के मिल आदि वैज्ञानिक उपकरणों का आरम्भ किया। यातायात और संचार-साधनों के साथ अंग्रेजी भाषा सभी प्रदेशवासियों

की सम्पर्क भाषा बनी जिससे आपसी सम्बन्ध सुदृढ़ होने लगे। शोषित और पीड़ित जनता के मन में राष्ट्रीय भावना के साथ राष्ट्रभाषा की कल्पना भी उभरने लगी। इस दिशा में हिन्दी प्रदेशवासियों से कहीं आगे हिन्दीतर भाषी हिन्दी, हिन्दुस्तानी या उर्दू को सार्वदेशिक सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित करने में काफी प्रयत्न किया। 19 वीं शती के आरम्भ से बंगाली भाषी राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, श्यामसुन्दर सेन, अमृतलाल चक्रवर्ती, जस्टिस शारदाचरण मित्रा, मराठीभाषी गोविन्द रघुनाथ धत्ते, सखाराम गणेश देउस्कर, बाबूराव विष्णु पराड़कर, बाल गंगाधर तिलक, लक्ष्मी नारायण गर्दे, गुजराती के स्वामी दयानन्द सरस्वती, मुन्शी सदासुख लाल, केशवराम भट्ट, महात्मा गांधी, आदि अनेक हिन्दीतर भाषी महापुरुषों ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास एवं लोकप्रियता को बढ़ाने में महत्व-पूर्ण योगदान प्रस्तुत किया है।

भाषा केवल विचार-विनिमय का साधन ही नहीं, समूची जाति के धर्म, शिक्षा, संस्कृति का सर्वांगीण भण्डार है। भारत के संविधान द्वारा घोषित सभी प्रादेशिक भाषायें साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अलग-अलग अस्तित्व रखती हैं। इस बहुभाषी भारत को आपस में मिलाने वाले सूत्र के रूप में हिन्दी को संविधान के द्वारा राजभाषा का स्थान प्राप्त हुआ है। भाषावार प्रदेशों के निर्माण के बाद यह और भी स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय साहित्य का सवाल अकेले किसी एक भाषा के साथ नहीं बल्कि सभी भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान एवं प्रगति पूर्ण सामूहिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। जब किसी एक देशी भाषा को राजभाषा का पद प्राप्त होता हैं तो उसका दायित्व बढ़ जाता है। उसकी परिधि प्रादेशिकता से उठकर सार्वदेशिक बन जाता है और उसे हर कदम फूंक-फूंक कर चलना पड़ता है। साथ ही, राजभाषा होने के नाते उसके लिये अनेक पहलुओं और कर्तव्यों को सफलतापूर्वक निभाने की क्षमता आवश्यक होती है क्योंकि राष्ट्रीय विकास, राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय एकता उस भाषा के साथ जुड़ी हुई है। आधुनिक युग की आवश्यकताओं जैसे कि प्रशासनिक, औद्योगिक, शैक्षणिक, वैचारिक आदि आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर राजभाषा को अन्य विकसित राष्ट्रभाषाओं (अंग्रेजि, रूसी, फ्रेंच आदी) के समतुल्य विकासोन्मुख बनाने की भी आवश्यकता होती है।

मातृभाषा एवं भारतीय भाषाओं के अध्ययन की सुविधा :

इस देश की विडम्बना यही है कि रूस, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि विदेशी छात्र एवं छात्राएं दक्षिण भारत के विश्वविद्यालयों में पहुंचकर तेलुगु, तमिल, मलयालम आदि भाषाओं के अध्ययन एवं अनुसंधान करते हैं लेकिन उत्तर भारत के हिन्दीभाषी छात्र या पंजाबीभाषी छात्र यहाँ की भाषा एवं साहित्य के अध्ययनार्थ कभी नहीं पहुँचते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार और शिक्षाविद् देशी भाषाओं का कितना आदर और सत्कार करते हैं। इस संदर्भ में साहित्यकार प्रेमचन्द के ये विचार आज भी वन्दनीय हैं— "क्या यह खेद की बात नहीं हैं कि हम दोनों जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक दूसरे के पड़ौस में रहते हैं, एक दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर हैं ? यूरोपियन विद्वानों को देखिए। उन्होंने हिन्दुस्तान के मुतल्लिक हरेक मर्मुकिन विषय पर तहकीकातें की हैं, पुस्तकें लिखी हैं। वे हमें उससे ज्यादा जानते हैं जितना हम अपने को जानते हैं। उसके विपरीत हम एक दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही में मग्न हैं। साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है।" दो या अधिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन करने के इच्छुक छात्र एवं विद्वानों को कालेज, विश्व-विद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन की सुविधा के साथ आवश्यक प्रोत्साहन भी देना चाहिये। बहु भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन, अनुसंधान, आदान-प्रदान की भावना को बढ़ावा देने से राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल मिलता है और विभिन्न भाषियों के बीच में सुहृद भावना बढ़ सकती है।

भारतीय भाषा-साहित्यों में राष्ट्रीय भावात्मक एकता :

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय में सभी भारतीय भाषा साहित्यों में अभूतपूर्व एवं अद्भुत एकता की भावना प्रस्फुटित हुई। सभी भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं ने भी एक ही लक्ष्य और एक ही मार्ग पर चलकर जनता को नव जागरण की ओर पथ प्रदर्शित किया। इस प्रकार करीब-क़रीब भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय से लेकर सामाजिक एवं धार्मिक सुधार, राष्ट्र-प्रेम, शिक्षा की व्याप्ति, स्त्री जन उद्धार, अस्पृश्यता निवारण, नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूकता, अपने-अपने भाषा एवं साहित्य के प्रति अपार प्रेम एवं श्रद्धा का परिचय, राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार, अंग्रेज शासन का विरोध, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र आदि का प्रचार सभी भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं एवं साहित्यिक रचनाओं में प्रतिफलित हुआ था।

इसी समय में प्राचीन एवं अपार ज्ञान सम्पन्न संस्कृत और आधुनिक अंग्रेजी साहित्य एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में सभी भारतीय भाषाओं, लिपियों और साहित्य विधाओं का आरम्भ एवं विकास हुआ था ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद संविधान में स्वीकृति प्राप्त भारतीय भाषाओं ने अपने-अपने दायरे में विषय विविधता और साहित्य की विभिन्न विधाओं के विकास को प्राप्त किया हैं । यह सन्तोषजनक विषय है । फिर भी खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि अधिकांश भारतीय भाषाओं के लेखक अपनी मातृभाषा कें अलावा केवल अंग्रेजी भाषा साहित्य से ही प्रेरणा ग्रहण करते हैं । अत्यन्त चिन्ताजनक बात यह है कि इन भारतीय लेखक एवं पाठकों को अपने अड़ोस-पड़ोस राज्यों के भाषा-साहित्य की गतिविधियों का परिचय भीं प्राप्त नहीं होता । परिणाम स्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के भारतीय लेखकों में जो विस्तृत राष्ट्रीय भावना रही थी वह धारा मन्द पड़ गयी । किसी एक प्रादेशिक भाषा के लेखक को अन्य भारतीय भाषाओं के परिचय के अभाव में विषय विविधता की कमी के साथ सम्पूर्ण राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से वंचित होकर केवल सीमित परिधि में सोचने–विचारने का मौका मिलता है । समाचारपत्रों में प्रादेशिक समाचारों का आधिक्य पाया जाता है । फलतः भारतीय भाषाओं के लेखक एवं पाठक एक ही राष्ट्र में रह कर अपने अड़ोस-पड़ोस के भाषा साहित्य ही नहीं उनकी आर्थिक, सामाजिक समस्याओं एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से अनभिज्ञ रह जाते हैं । उक्त कारणों से आज भी भारतीय भाषाओं की रचनाओं में राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जगरूकता बहुत कम और खण्डित पाई जाती है ।

वस्तुतः आज प्रादेशिक भाषा एवं साहित्य अपने अपने बन्द कमरों में सिकुड़ कर रह गये हैं जिन्हें अन्य भाषा साहित्यों से मिलने-जुलने और उनसे प्रभावित एवं प्रतिस्पंदित होने के लिये योग्य वातायन एवं विशाल द्वारों की आवश्यकता है । तभी राष्ट्रीय भावात्मक एकता रूपी प्रकाश सभी भारतीय भाषा साहित्यों में पाया जा सकता हैं । भारतीय भाषा साहित्यों के आदान–प्रदान की दिशा में केन्द्रीय साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट और कुछ प्रादेशिक भाषा-साहित्य की संस्थायें सीमित मात्रा में काम कर रही हैं। उन भाषाओं की ख्यातिप्राप्त साहित्यिक रचनाओं को अन्य भारतीय

भाषाओं में अनूदित किया जा रहा है। केन्द्रीय अकादमी की ओर से प्रति वर्ष कुछ प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित मूल्यवान पुस्तकों को पुरस्कार मिल रहे हैं। इसी प्रकार केन्द्रीय साहित्य अकादमी की ओर से संविधान में स्वीकृत 22 भाषाओं के प्रमुख लेखकों को एक भाषी लेखक दूसरे भाषी लेखकों से विचार-विनिमय करने और उनकी रचनाओं को आकलन करने के लिये यात्रा अनुदान भी बहुत सीमित लेखकों को दिया जा रहा हैं। इससे एक प्रदेश के लेखक दूसरे प्रदेश के भाषा-साहित्यों, पुस्तकालयों, सांस्कृतिक संस्थाओं का परिचय और वहाँ के सामाजिक जीवन, प्राकृतिक रमणीयता, आचार-व्यवहारों से प्रभाव ग्रहण कर लेखक अपनी रचनाओं में नये परिवेश और नये मूल्यों का प्रतिपादन कर सकता है। इस प्रकार लेखक की व्यापक पृष्ठभूमि अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को अनायास मिल जाती है।

भारतीय भाषाओं की लिपियों का एकीकरण की आवश्यकता :

राष्ट्रीय भावात्मक एकता को साधने में लिपियों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। हमारी प्रादेशिक भाषाओं की लिपियों को सीमित प्रयत्न के साथ एकीकृत किया जा सकता है। जनमत संग्रह और विद्वानों की बैठकों से लिपियों में किसी भाषा विशेष के उच्चारण एवं संस्कृति के हरण किये बिना अनेक लिपियों को सीमित लिपियों में रूपायित किया जा सकता हैं। इससे समाचार प्रसारण, टेलीप्रिण्टर, पुस्तक प्रकाशन में समय और धन की बचत हो जाती है। एक और महत्वपूर्ण लाभ यह है कि भिन्न भाषाओं के लिये एक ही लिपि होने के कारण कोई भी व्यक्ति अनायास ही अपनी भाषा के अलावा अन्य भषाओं को पढ़ सकता है और समझने का प्रयत्न भी करता है। इससे मानसिक रूप से समाज में दूसरी भाषा के प्रति द्वेष की भावना कम हो जाती है।

सारे भारत में आज प्रमुखतः तीन प्रकार की लिपियाँ प्रचलित हैं : (1) देवनगरी लिपि (2) द्राविड़ लिपि और (3) खरोष्ठी लिपि। देव नागरी आज अनेक भारतीय भाषाओं की मातृलिपि मानी जा सकती है और देवनागरी लिपि अधिक वैज्ञागिक लिपि भी सिद्ध हुई है। इसे अनेक भारतीय भाषाओं ने बहुत कम परिवर्तन कर स्वीकृत किया है। इसके सुन्दर उदाहरण के रूप हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भषाओं को ले सकते हैं। इसी प्रकार बंगाली, उड़िया, असमी और मणिपुरी भाषाओं की लिपियों

में अधिक सामीप्य पाया जाता है जिन्हें 'कुटिल लिपि' भी कहा जाता है। इन सबकी मूल लिपि 'देवनागरी' ही है। द्राविड़ भाषाओं की लिपियों में खासकर तेलुगु और कन्नड़ लिपियों में अन्तर बहुत कम पाया जाता है। इस प्रकार संविधान में स्वीकृति प्राप्त भाषाओं के लिये चार या पाँच लिपियों से अधिक आवश्यकता नहीं हो सकती।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व सारे भारतीय भाषाओं के लिये एक ही लिपि 'देवनागरी' को अपनाने की दिशा में कुछ विद्वानों ने पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी किया था। उन पत्रों में लिपि 'देवनागरी' होती थी और रचनाएँ भिन्न भाषाओं की होती थीं। पुन : इस परिकल्पना के बारे में यदि भाषा वैज्ञानिक, साहित्यकार, राजनीतिज्ञ एवं साधारण जनता खुले दिल से विचार करेंगे तो कुछ अच्छे परिणाम अवश्य निकलेंगे। इस संदर्भ में राष्ट्रभाषा से सम्बन्धित संस्थाओं के साथ अन्य प्रादेशिक भाषा संस्थाओं के सहयोग की भी नितांत आवश्यकता होती हैं।

रेडियो और दूरदर्शन भावात्मक एकता के प्रतीक बनें :

आज रेडियो, टेलिविजन, पत्र-पत्रिकाएँ शिक्षित एवं अशिक्षितों में भी राष्ट्रीय समस्याओं पर ध्यान देने के मूल स्रोत माने जा सकते हैं। इन प्रचार माध्यमों से सभी राष्ट्रीय भाषाओं, संस्कृतियों, समस्याओं पर संतुलित एवं सन्दर्भानुसार उपयोग करने से राष्ट्रीय भावात्मक एकता को अवश्य बल मिल जाता है। आजकल हमारे प्रसार माध्यम किसी एकव्यक्ति या परिवार पर विशेष प्रकाश डालकर स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये जिन मनीषियों ने अपने जीवन को अर्पण किया था उन सबको इतिहास से मिटाने और जनता को गुमराह करने का प्रयत्न भी प्रकट हुये हैं। प्रचार एवं प्रसार साधनों के लोकतंत्र सरकार द्वारा इस प्रकार दुरुपयोग किये जाने पर संपूर्ण राष्ट्र पर दुष्परिणाम निकल सकते हैं।

हिन्दीतर ाषियों की यह शिकायत निरन्तर बढ़ती जा रही है कि दूरदर्शन के माध्यम से हिन्दी कार्यक्रमों के लिये ही अधिक समय दिया जा रहा है, हिन्दी का जबर्दस्ती से प्रचार कर रहे हैं, हमारी मातृभाषाओं में दूरदर्शन कार्यक्रम बहुत कम और दकियानूसी निकालते हैं। केन्द्रीय सूचना एवं समाचार प्रसारण मंत्रालय को इस बात से जागरूक रहना चाहिए कि

संविधान में स्वीकृति प्राप्त भारतीय भाषाओं का दर्जा समान है । हिन्दी और हिन्दीतर भाषाओं के कार्यक्रमों के समय एवं कार्यक्रमों में सन्तुलन एवं समन्वय पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । हिन्दीतर भाषियों का इस असंतोष को समय पर परिष्कार नहीं किया जायेगा तो राष्ट्रीय भावात्मक एकता के लिये भयंकर सिद्ध हो जायेगा ।

अनेकता में एकता की आवश्यकता :

अनेक शताब्दियों से प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराओं से परिवेष्टित भारतीय समाज ने आज सर्व स्वतन्त्र, जनतंत्रात्मक सत्ता को अपनाकर आधुनिक युग में पदार्पण किया है । भारत के विभिन्न धर्म, जाति, भाषा, प्रांतवासी एकजुट होकर आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी के माध्यम से समाज के सभी वर्गों के भौतिक एवं मानसिक विकास के लिये कटिबद्ध हुये हैं । आज हरेक भारतवासी की समस्या यह है कि अपनी प्राचीन संस्कृति को आधुनिक युग के अनुरूप कैसे ढालें और अपने मानसिक एवं संघठित सन्तुलन खोये बिना विश्व के अन्य अग्रगामी राष्ट्रों के समतुल्य कैसे आगे बढ़ें ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत राष्ट्र के मौलिक तत्वों को स्पष्ट रूप से हमारे संविधान में प्रतिबिम्बित किया है । संविधान में बहुरूपी राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा, धर्मनिरपेक्षता, सभी भारतवासियों के लिये एक ही नागरिकता एवं समान सुयोग, अस्पृश्यता का निवारण, लोकतन्त्र की सुरक्षा, मूल अधिकारों की सुरक्षा, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विभिन्न वर्ग, जाति, धर्मावलम्बियों में पारस्परिक प्रेम एवं भ्रातृ भावना को बढ़ावा देना, एकीकृत विधि-व्यवस्था और अल्पसंख्यकों के कल्याण की सुरक्षा इत्यादि प्रमुख तत्व माने जाते हैं । साधारणतः असमानताओं के बीच किसी व्यक्ति या वर्ग भावात्मक एकता का अनुभव नहीं कर सकता । अतः संविधान ने सामाजिक, आर्थिक और अन्य असमानताओं को दूर करने का भार पूरे राष्ट्र पर छोड़ दिया है ।

भारतवासियों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में अभूतपूर्व एकता और मर -मिटने का साहसपूर्ण त्याग प्रदर्शित किया था फलस्वरूप हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हुई । आज हम राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में लगे हुये हैं । इस सन्दर्भ में

राष्ट्रीय एकता हमारे विकास एवं सम्पन्नता का अत्यावश्यक एवं सर्वप्रथम अंग माना जाता है। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोग अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये फिर से अपने प्रांत, जाति, धर्म, भाषा आदि अलग-अलग गुटों में विभाजित होकर राष्ट्रीय भावात्मक एकता को भंग करने में लगे हुये हैं। परिणामस्वरूप भारत के विभिन्न प्रांतों में साम्प्रदायिक दंगे-फसाद, भाषावाद, प्रांतवाद आदि संकीर्ण भावनाओं से आन्दोलन चला रहे हैं। अक्सर ऐसे झगड़ों के पीछे किसी न किसी राजनीतिक दल या गुट का हस्तक्षेप पाया जाता है। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय विकासक्रम में गिरावट, अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों की दृष्टि में भारत का अपमान और राष्ट्रीय भावात्मक एकता को जोड़ने वाली शक्तियों में निर्बलता पैदा होती जा रही है।

सांस्कृतिक एवं मानव मूल्यों का सम्मान :

वस्तुतः राष्ट्रीय भावात्मक एकता के लिये भाषा, साहित्य, संस्कृति धर्म, जाति आदि बाह्य रूप माने जा सकते हैं। मौलिक रूप से आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं मानसिक तत्वों के समन्वय के द्वारा ही राष्ट्रीय भावात्मक एकता और लोकतन्त्र पर लोगों में विश्वास बढ़ जाता है। जब-जब सरकार किसी प्रांत की उक्त समस्याओं पर अदूरदर्शिता, राजनीतिक हस्तक्षेप और लाल-फीताशाही का अनुसरण करती है तभी लोगों में असन्तोष फैल जाता है। परिणामस्वरूप पारस्परिक संघर्ष, राष्ट्रीय सम्पत्ति पर आग लगाते हैं और अलग राज्य या राष्ट्रीय माँग करने वाले तत्वों को शक्ति मिल जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय भावात्मक एकता को क्षति पहुंचती है।

यह बड़ी चिन्ताजनक बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के चालीस वर्षों के बाद भी हम अपनी सामन्तवादी विचारधारा से मुक्त नहीं हो सके। यह प्रथा पिछड़े हुये राज्यों में आज भी जैसी की तैसी बनी हुई है। संविधान और प्रशासनिक आदेशों के विरुद्ध देश के विभिन्न भागों में बेगारी, अस्पृ-श्यता आदि भयंकर असामाजिक तत्व विद्यमान हैं। पिछड़े हुये इलाकों में शिक्षा और आर्थिक विकास के बिना लोग इस प्रकार की कुरीतियों से मुक्त नहीं हो सकते। आर्थिक असन्तुलन को मिटाने के प्रयत्न के साथ अमीर और गरीब वर्गों के आपसी सम्बन्धों में सुहृदभावना स्थापित करने से आज हम अनेक प्रांतों में चलने वाले प्रांत एवं जाति सम्बन्धी आन्दोलनों को मिटा सकते हैं।

असामाजिक तत्वों की समस्या :

हमारी दुर्बलता यह है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति को अपनी नहीं मानते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय में विदेशी शासकों को देश से बहिष्कृत करने के लिये स्कूल एवं कालेज छोड़कर जुलूस निकालना, रेलगाड़ियों को रोकना पटरियों को अलग कर देना, परिवहन साधनों, सरकारी दफतरों को जलाना आदि किये गये थे। अंग्रेजी शासन में विदेशी वस्त्रों एवं वस्तुओं को जलाना आदि गांधी जी के निर्देशन में भी चलते थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी हमारे मन में सरकार का माल पराया समझा जाता है।

आज औसत भारतवासी की दृष्टि चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, यही है कि जो भी सार्वजनिक सम्पत्ति चाहे रेल, दफतर, बिजली, बैंक, स्कूल-कालेज और वहाँ की सारी चीजें हमारी नहीं हैं इसलिये चाहे उनका दुरुपयोग किया जा सकता है या नष्ट-भ्रष्ट करने की स्वतन्त्रता भी है और उनके नष्ट होने से हमारा कोई ताल्लुक नहीं। हमारे मन में राष्ट्रीय सम्पत्ति के प्रति जो दुष्ट भावना हैं उससे हमें बाहर निकलना चाहिये। तभी राष्ट्रीय विकास, राष्ट्रीय भावात्मक एकता आदि विषयों पर सोच-समझ सकते है।

यह अत्यन्त सोचनीय बात हैं कि जैसे-जैसे भारत में शिक्षा की व्याप्ति, ऐश-आराम के लिये उपयोगी उपकरणों का विकास, आर्थिक एवं वैज्ञानिक प्रगति प्राप्त हो रही है, उस पैमाने से कहीं अधिक मात्रा में लोगों में सामाजिक नीति-नियमों का उल्लंघन और विश्रंखल जीवन के प्रति अनुरक्ति बढ़ती जा रही है। ईससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम अपने परम्परागत जीवन मूल्यों से भटक गये हैं, हमारे राजनीतिज्ञ जो उच्च पदों पर आसीन हैं, भ्रष्टाचार, गुण्डागर्दी को बढ़ावा दे रहे हैं। परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक दंगे-फसाद और साधारण सामाजिक जीवन में अनुनित्य असुरक्षा फैलती जा रही है। अनुशासनहीनता, बेरोजगारी, अकर्मण्यता आज हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति बन गयी हैं। ये सभी वर्तमान आन्तरिक दुर्बलतायें राष्ट्रीय विकास को पंगु बना देती हैं। हमारा इतिहास ही इस बात का साक्षी है कि आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण से ही हमें हजारों वर्ष बर्बर विदेशी जातियों के अधीन रहना पड़ा था।

चाहे हमें विज्ञान एवं तकनीकी आदि भौतिक संसाधनों से जितनी भी प्रगति मिले, मानसिक संतुलन, सामाजिक अनुशासन, राष्ट्र प्रेम, कर्तव्यपरायणता के बिना विश्व के विकसित राष्ट्रों के समकक्ष नहीं पहुँच सकते। इसलिये हमें आधुनिक विज्ञान के द्वारा समाज के सभी वर्गों के जीवन स्तर को एक तरफ अवश्य बढ़वा देना चाहिए और दूसरी तरफ हमारे प्राचीन धर्म सहिष्णुता, सत्य और अहिंसा को हमारी जीवनधारा मान लेना चाहिये। इस प्रकार प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के सम्मेलन से ही विश्व में हम आधुनिक विकासशील राष्ट्रों के प्रतीक बन सकते हैं। हमारी विरासत में जो आध्यात्मिक, पारलौकिक एवं चिरतन मूल्य मिले, उनकी सुरक्षा हमें कर लेनी चाहिये, साथ ही पाश्चात्य संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में ऐहिक एवं भौतिक आवश्यकताओं पर भी समान दृष्टि केन्द्रित करनी चाहिये। उक्त मूल्यों का विकास एवं समृद्धि हमें तभी संभव हो सकती है जब हम सब प्रांत, भाषा, धर्म, जाति, वर्ग आदि से परे होकर एकजुट हो सकें।

आधुनिक भारत के युगचेता महापुरुष स्वामी विवेकानंद जी ने भगवान से प्रार्थना की कि— भारतवासियों में समानता, मानवता और भाईचारे की भावना के साथ धैर्य और साहस प्रदान करो। उन्हीं की वाणी में— "ऐ भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती, है, तुम मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन और जीवन इंद्रिय-सुख के लिये, अपने व्यक्तिगत सुख के लिये नहीं हैं, तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरी शिशु-सज्जा, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्द्धक्य की वाराणसी है और रात-दिन कहते रहो—हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो, माँ मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ।" सदा हमें उनकी उज्ज्वल वाणी को नतमस्तक होकर स्मरण कर लेने की आवश्यकता है तभी हम राष्ट्रीय भावात्मक एकता को सुदृढ़ बना सकते हैं।